पावन मुनि दीक्षा एवं मंगल वर्षायोग-उदयपुर शहर
(2005) की मधुर स्मृति में प्रकाशित

शिक्षा - संस्कृति एवं नारी गरिमा

लेखक

वैज्ञानिक धर्माचार्य श्री कनकनंदी जी गुरुदेव

प्रकाशक

धर्म दर्शन विज्ञान शोध संस्थान (बडौत)
धर्म दर्शन सेवा संस्थान (उदयपुर) ग्रंथाङ्क - 151

संस्करण - प्रथम - 2005
प्रतियाँ - 1000
मूल्य - 61.00/- रुपये
मुद्रक - जैन प्रिन्टर्स, उदयपुर फोन : 2425843

द्रव्यदाता / ज्ञानदाता

1) श्रीमती लक्ष्मी जैन - श्री गुरुचरण जैन (एडवोकेट - मुंबई हायकोर्ट)
144, मुवी टावर, नीयर मिल्लत नगर
लोखण्डवाला कॉम्पलेक्स, अन्धेरी (प.) मुंबई नं. - 57
फोन - (022) - 26327152, 26312124

सुपुत्र	पुत्रवधु	पौत्र
2) श्री पंकज जैन	श्रीमती गीत जैन	ईशा,विशेष
3) श्री अम्बुज जैन	श्रीमती लोचन जैन	अपूर्व, हर्षित
4) श्री संदीप जैन	श्रीमती पल्लवी जैन	निर्भय, अनुभूति
5) श्री राजीव जैन	श्रीमती सीमा जैन	वत्सल, सिद्धान्त
सुपुत्री	**जामाता**	**नाती**
6) श्रीमती रितु जैन	श्री विशाल जैन	सृष्टि, राज

नारी की विचारणीय स्थिति :-

कई सौ वर्षों पहले मुगल, फिर अंग्रेजों के साम्राज्य और उनके अत्याचारों ने नारी के अस्तित्व को घर की चार दिवारी में कैद होने को बाध्य कर दिया था। गांधी जी और विवेकानंद आदि के प्रयासों ने नारी को पुनः घर की चार दिवारी से निकालकर शिक्षा और सामाजिक कार्यों में भाग लेने का आह्वान किया। भारत स्वतंत्र तो हुआ किंतु पाश्चात्य संस्कृति से मुक्त न हो सका। आज की भौतिक शिक्षा ने नारी का गरिमा और भारत की संस्कृति का ह्रास कर दिया। आज की नारी पैसा बटोरने की धून में वह स्वयं को प्रसिद्ध करने के लिए अनर्गल फैशन, अश्लीलता, स्वच्छंदता, चारित्र पतन की ओर बढा रही है। नारी का पतन देश का पतन है।

हम पति-पत्नी मुंबई से वैज्ञानिक आचार्य धर्मगुरु श्री कनकनंदी जी गुरुदेव जो ससंघ नरसिंहपुरा का नोहरा, उदयपुर में चातुर्मास के लिए विराजमान है, दसलक्षण पर्व मनाने के लिए उनके सानिध्य में आये। तब हमने नारी शिक्षा के दुरुपयोग के बारे में गुरुदेव से चर्चा की, जो हम टी.वी. सिरियल, समाचार पत्र, पत्रिकाओं में देख, पढ, सुन रहे थे। जिसमें स्त्रियों का चरित्र निम्न स्तर का बताया जा रहा है। नारी का ऐसा बदला हुआ स्वरूप देख हमारे मन में अत्याधिक पीडा थी। तब आचार्य श्री ने कहा मेरे मन में भी यही पिडा है। कहाँ भारतवर्ष की गौरवशाली सतियाँ सीता, मैनासुंदरी, चंदनबाला, मीराबाई, जीजाबाई, रानी लक्ष्मीबाई, मदर टेरेसा इत्यादि जिन्होंने अपना जीवन पति परायणता, भक्ति, वात्सल्य, देश-भक्ति, जन-सेवा में लगा दिया। जिन्होंने भारतवर्ष को गौरवान्वित कर अपना नाम इतिहास में स्वर्ण अक्षरों में अङ्कित किया। आचार्य श्री ने ये भी बताया कि मैं इसी विषय पर एक पुस्तक का लेखन कार्य कर रहा हूँ जिसका नाम 'शिक्षा, संस्कृति और नारी गरिमा' है। उन्होंने उस पुस्तक के कुछ अंश हमें पढने को दिये। जिसमें नारी को पतन से निकालकर उत्थान की ओर कैसे ले जाय इसपर प्रकाश डाला है। अतः हमारे भाव इस पुस्तका को प्रकाशित करके जन-जन तक तथा विशेषतः नारियों के पास पहुँचाने का हुआ। अपने ये भाव हमने आचार्य श्री के समक्ष पगट किये। आचार्य श्री ने तत्काल स्वीकार किया एवं हमारे विचारानुसार कुछ नये विषय इस पुस्तक में जोडे।

हमारे विचार में नारी की गरिमा ही उसकी उच्च शिक्षा व संस्कृति है। गरिमामय नारी ही एक सुसंस्कृत परिवार, समाज, देश का निर्माण कर सकती है।

हमारे लिए अति हर्ष का विषय है कि आचार्य श्री के ग्रंथों पर शोधकार्य सेठ

मोतीलाल स्नातकोत्तर महाविद्यालय, झुंझनू, राजस्थान विश्व विद्यालय जयपुर (राजस्थान) में हो रहा है। यह हमें इसी विश्वविद्यालय के डॉ. बी.एल. सेठी, इतिहास विभागाध्यक्ष एवं शोध निर्देशक ने बताया। इसी प्रकार भाभा अणुविद्युत केंद्र, रावतभाटा, कोटा में कार्यरत वैज्ञानिक अधिकारी श्रीमान् अजित प्रकाश जैन स्वयं आचार्य श्री के साहित्यों पर शोधकार्य करने वाले हैं। विदेशों में भी आचार्य श्री के साहित्यों की मांग हो रही है। अभी धर्म दर्शन सेवा एवं विज्ञान शोध संस्थान के तरफ से आचार्य श्री के शिष्य डॉ. एन.एल. कछारा अचार्य श्री के मार्गदर्शन से अमेरीका में जैन धर्म संबधि प्रभावना करके आये हैं। वे बता रहे थे कि वहाँ लोगों में धर्म के प्रति बहुत ही रुची है एवं आचार्य श्री के साहित्यों के प्रति भी वहाँ के निवासियों ने उत्सुकता दिखाई। जिनके साहित्यों पर शोधार्थी कार्य कर रहे हैं और वैज्ञानिक भी शोधकार्य करने में रुची ले रहे हैं। उनके साहित्यों को प्रकाशित करके हम लोग भी जिनवाणी की एवं आचार्य श्री की कुछ सेवा करने का अवसर हमें प्राप्त हुआ है। इसलिए हमारा पूर्ण परिवार आचार्य श्री का ऋणी है। आचार्य श्री की लेखनी इस अखिल विश्व को ज्ञान से आलोकित कर दे इस महति शुभ भावना के साथ।

लक्ष्मी गुरुचरणदास जैन (मुंबई)

-: अमृतानुभव :-

धार्मिक, सज्जन, सांस्कृतिक, श्रेष्ठ, गुणग्राही, आदर्श या ज्ञानी के लक्षण है सत्यनिष्ठा, विनम्रता, निष्पक्षता, समन्वय समानता, समता, कर्तव्यनिष्ठा, आत्मानुशासन, पर अपरपीडकता, सहिष्णुता, उद्यमशीलता, प्रगतिशीलता, जिज्ञासु प्रवृत्ति, अप्रमाद, धैर्य, क्षमा, सरल-सहजता आदि। इन गुणों से ही वे विकास करते हैं, प्रसन्नता अनुभव करते हैं, शान्ति अनुभव करते हैं। प्रकारान्तर से कहें तो आन्तरिक उत्तम गुण एवं उत्तम आचरण से व्यक्ति महान् बनता है, विकास करता है और उसका फल है सुख-शांति। गणित के सूत्रानुसार (आध्यात्मिक गुण = विकास = सुख-शांति) अर्थात् आत्मिक शांति का अभाव आत्मिक गुण तथा यथार्थ विकास के अभाव का प्रतिफल है। गणित के सूत्रानुसार (अशांति = दुर्गुण = विनाश)

अन्तरंग

इसे पढे आगे बढे

हितकर कटुवचन भी सत्य एवं ग्रहणीय

विश्व में अनादि अनन्तकाल से चतुर्गतिरूपी संसार में 84 लाख योनियों में मनुष्य सर्वश्रेष्ठ प्राणी इसलिए है कि मनुष्य के पास एक उन्नत मस्तिष्क, सीधी रीढ, क्रियाशील हाथ, हिताहित परिज्ञान कराने वाला गुरु है। इसके बिना मनुष्य भी अन्य प्राणियों से अधिक भिन्न नहीं होता। गुरु को विश्व में सर्वश्रेष्ठ इसलिए माना जाता है क्योंकि गुरु शिष्य के सर्वाङ्गीण विकास के लिए ज्ञानामृत रूपी भोजन देते हैं तो अनुशासन रूपी कडवी औषधि का प्रयोग करते हैं तथा वात्सल्य रूपी शीतल पेय देते हैं। वृक्ष के सर्वाङ्गीण विकास के लिए जिस प्रकार पानी, खाद, वायु, सुरक्षा, औषधि के साथ-साथ सूर्य किरण चाहिए उसी प्रकार शिष्य/मनुष्य के सर्वाङ्गीण विकास के लिए उपर्युक्त ज्ञान, अनुशासन, वात्सल्य आदि कारक चाहिए। यथा -

जना घनाश्च वाचालाः सुलभाः स्युर्वृथोत्थिताः।
दुर्लभा ह्यन्तरार्द्रास्ते जगदभ्युज्जिहीर्षवः॥ (आत्मानुशासन)

जिनका उत्थान (उत्पत्ति और प्रयत्न) व्यर्थ है ऐसे वाचाल मनुष्य और मेघ दोनों ही सरलता से प्राप्त होते हैं। किंतु जो भीतर से आर्द्र (दयालु और जलसे पूर्ण) होकर जगत् का उद्धार करना चाहते हैं ऐसे वे मनुष्य और मेघ दोनों ही दुर्लभ हैं।

दोषान् कांश्चन तान् प्रवर्तकताया प्रच्छाद्य गच्छत्ययां
सार्धं तैः सहसा म्रिसेद्यदि गुरुः पश्चात्करोत्येष किम्।
तस्मान्मे न गुरुर्गुरुतरान् कृत्वा लघूश्च स्फुटं
ब्रूते यः सततं समीक्ष्य निपुणं सोऽयं खलः सद्गुरुः॥ 141

यदि यह गुरु शिष्य के उन किन्हीं दोषों को प्रवृत्ति कराने की इच्छा से अथवा अज्ञानता से आच्छादित करके - प्रकाशित न करके -चलता है और इस बीच में यदि वह शिष्य उक्त दोषों के साथ मरण को प्राप्त हो जाता है तो फिर यह गुरु पीछे क्या कर सकता है ? कुछ भी उसका भला नहीं कर सकता हैं। ऐसी स्थिति में वह शिष्य विचार करता है कि मेरे दोषों को आच्छादित करने वाला वह गुरु वास्तव में मेरा गुरु (हितैषी आचार्य) नहीं है। किंतु जो दुष्ट मेरे क्षुद्र भी दोषों को निरन्तर सूक्ष्मता से देख करके उन्हें अतिशय महान् बना करके स्पष्टता से कहता है वह यह दुष्ट ही मेरा समीचीन गुरु है।

विकाशसयन्ति भव्यस्य मनोमुकुलमंशवः।
रवेरिवारविन्दस्य कठोराश्च गुरुक्तयः॥ 142

कठोर भी गुरु के वचन भव्य जीव के मन को इस प्रकार से प्रफुल्लित (आनंदित) करते हैं जिस प्रकार कि सूर्य की कठोर (संतापजनक) भी किरणें कमल की कली को प्रफुल्लित किया करती हैं।

लोकद्वयहितं वक्तुं श्रोतुं च सुलभाः पुरा ।
दुर्लभाः कर्तुमद्यत्वे वक्तुं श्रोतुं च दुर्लभाः ॥ 143

पूर्व काल में जिस धर्म के आचरण से इस लोक और परलोक दोनों ही लोकों में हित होता है उस धर्म का व्याख्यान करने के लिए तथा उसे सुनने के लिए भी बहुत से जन सरलता से उपलब्ध होते थे, परंतु तदनुकूल आचरण करने के लिए उस समय भी बहुत जन दुर्लभ थे। किंतु वर्तमान में तो उक्त धर्म का व्याख्यान करने के लिए और सुनने के लिए भी मनुष्य दुर्लभ हैं, फिर उसका आचरण करने वाले तो दूर ही रहे।

गुरु कुंभार कुंभ शिष्य है गढ गढ काढे खोट।
अन्तर हाथ पसार कर ऊपर मारे चोट॥

उपर्युक्त परम्परा भारत में प्राचीन काल में जीवंत रूप से प्रचलन में थी। गुरु-शिष्य को श्रेष्ठ-ज्येष्ठ, आदर्श, महान्, गुणी, सुखी, उन्नत बनाने के लिए अन्तरंग में प्रेम, दया, सद्उद्देश्य रखकर वचन से, व्यवहार से अनुशासन करते थे, प्रायश्चित्त देते थे। सामान्य जन के लिए तो ''हित-मित-प्रियवचन'' का प्रावधान है किंतु विशेष परिस्थिति में शिष्यों के लिए गुरु के लिए ''मित-प्रियवचन'' का प्रावधान अनिवार्य नहीं था किंतु 'हित' विशेषण सदा-सर्वदा-सर्वत्र अनिवार्य था। गुरु ऐसा व्यवहार सामान्य गरीब शिष्य से लेकर चक्रवर्ती के पुत्र तथा यहाँ तक कि स्वयं चक्रवर्ती के लिए भी करते थे। गुरु व्यक्तिगत रूप से निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि अङ्ग/गुणों से युक्त होकर/आदर्श बनकर व्यष्टिगत (सामाजिक, राष्ट्र, विश्व) हित के लिए उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य, प्रभावना अङ्ग/गुणों से युक्त होकर वचन-व्यवहार करते हैं। भले कभी-कभी इसका प्राथमिक प्रभाव कटु हो परंतु दूरगामी परिणाम मधुर होता है। यथा -

यद्यपि कदाचिदस्मिन् विपाकमधुरं तदात्वकटु किञ्चित्।
त्वं तस्मान्मा भैषीर्यथातुरो भेषजादुग्रात् ॥ 3

यद्यपि इस (आत्मानुशासन, पुस्तक) में प्रतिपादित किया जाने वाला कुछ सत्य-तथ्य, सम्यग्दर्शनादि का उपदेश कदाचित् सुनने में अथवा आचरण करने में थोडा सा कडुआ (दुःखदायक) प्रतीत हो सकता है, तो भी वह परिणाम में मधुर (हितकारक) ही होगा। इसलिए हे आत्मन् ! जिस प्रकार रोगी तीक्ष्ण (कडुवी) औषधि से नहीं डरता है उसी प्रकार तू भी उससे डरना नहीं।

गुरु- शिष्य, श्रोता, वक्ता के विभिन्न भेद-प्रभेद में से कुछ भेद -प्रभेद निम्नोक्त है -

1) उपर्युक्त विधि से व्यवहार करने वाले गुरु-शिष्य, वक्ता-श्रोता आदर्श है। यथा चारण ऋद्धिधारी मुनि - शेर (भगवान् महावीर की पूर्वावस्था), महात्मा बुद्ध-अंगुलीमाल डाकू, साधु-रत्नाकर डाकू आदि। इस श्रेणी में गुरु शिष्य दोनों श्रेष्ठ हैं। 2) विभिषण-रावण, विदुर-दुर्योधन रुपी वक्ता-श्रोता की श्रेणी में वक्ता श्रेष्ठ है परंतु श्रोता निकृष्ठ/अयोग्य है। 3) चोर, डाकू, लुटेरे, आतङ्कवादी आदि के प्रशिक्षणदाता एवं प्रशिक्षण प्राप्त व्यक्ति दोनों अयोग्य है, अपराधि है। 4) जिस मिठे-मिठे वचन एवं व्यवहार से वेश्या, शिकारी, व्यापारी, ठग, चापलूस दूसरों को ठगते हैं, शोषण करते हैं, घात करते हैं वह वचन-व्यवहार मिठा-जहर के बराबर हैं या उससे भी अधिक हानिकारक हैं। उपर्युक्त चारों भेदों में से मेरा हर चिंतन, लेखन, वचन, व्यवहार प्रथम एवं द्वितीय श्रेणी के ही अन्तर्गत होते हैं। मेरा सुदीर्घ शताधिक अनुभव है कि पहले-पहले मेरे चिंतन-लेखन, व्यवहार, कार्य, भोजन, अनुभव, अनुमान आदि को अधिकांश व्यक्ति न समझते हैं, न मानते हैं। इतना ही नहीं कुछ तो गलत मानते हैं, विरोध भी करते हैं परंतु 'सत्यमेव जयते' 'सांच को आंच नहीं' के अनुसार गुणग्राही प्रबुद्ध वर्ग तो शीघ्रता से समझ लेता है परंतु दूसरे लोग भी धीरे-धीरे समझते हैं।

उपर्युक्त उद्देश्य, भाव एवं अङ्गों से युक्त होकर बाल्यकाल से ही चर्चा, लेखन, प्रवचन, शिविर, संगोष्ठी, देश-विदेश में धर्म प्रभावना के साथ-साथ स्कूल-कॉलेज-विश्वविद्यालय की शिक्षा की गुणवत्ता के लिए प्रयास कर रहा हूँ। सर्वसाधारण के हितार्थे जो कुछ कार्य एवं सरल-सहज भाषा में धर्म, संस्कार, राष्ट्र शिक्षा-संस्कृति-नारी गरिमा सम्बन्धि लेख लिख रहा हूँ उनमें से कुछ लेखों का संकलन इस 'शिक्षा-संस्कृति-नारी गरिमा' की पुस्तक में किया गया है। उदयपुर शहर के चातुर्मास (2005) में पर्युषण पर्व मनाने के लिए श्रीमान् गुरुचरणदास एवं श्रीमती लक्ष्मी हमारे संघ में आये। संदर्भ प्राप्त नारी के बारे में जब चर्चा चली तब मैंने उस सम्बन्धि मेरा लेख उन्हें पढने के लिए दिया। उस लेख में उन्होंने जब नारी का यथार्थ वर्णन पाया जो कि वे भी अनुभव करते हैं तब उन्होंने इस पुस्तक के प्रकाशन का अर्थभार वहन करने के लिए स्वेच्छा से अनुरोध किया। उनके सत्प्रयास से इसका प्रकाशन हुआ। इसी प्रकार इनके सौजन्य से मेरे अनेक ग्रंथ भी प्रकाशित हुए हैं। उनकी इसी भावना/दान प्रवृत्ति के कारण उन्हें मैंने 'दानश्री' पदवी प्रदान किया है। उन्हें सपरिवार को मेरा शुभाशिर्वाद।

कंपोजिंग कर्ता क्षुल्लक श्री सच्चिदानन्द, आर्यिका ऋद्धिश्री तथा सुलेख सहयोगी प्रियंका भोजावत, प्रियंका कुणावत, प्रतिभा कुणावत, जयंत चित्तौडा, आर्यिका जिनवाणी, आर्यिका गुरुवाणी एवं प्रेस वालों को मेरा शुभाशिर्वाद। इस कृति के अध्ययन से सब सुशिक्षित, सुसंस्कारित, गरिमा पूर्ण बने ऐसी शुभकामनाओं के साथ -

वैज्ञानिक धर्माचार्य श्री कनकनंदी जी

उदयपुर 14-09-2005

-: अमृतानुभव :-

शक्कर के मिठास का अनुभव जिस प्रकार चखे बिना केवल पढने-सुनने में नहीं आता है उसी प्रकार सत्य, आत्मा की उपलब्धि अनुभव बिना केवल पढने-सुनने से नहीं होती है।

आचार्य शान्तिसागरजी गुरूदेव की पुण्यतिथि (2005) के अवसर पर प्रो. प्रभात कुमार जैन (आ. कनकनन्दी संघस्थ) का मुख्य अतिथि रूप से स्वागत करते हुए जिला प्रमुख छगनलाल जैन एवं मनसुखलाल जैन नरसिंहपुरों के नोहरा (उदयपुर)

अनुक्रमणिका

A) **शिक्षा** पृष्ठ क्रमांक

1) सुखी होने के उपाय गुण-दोष विवेक - 10
2) भारतीय शिक्षा के उद्देश्य, पद्धति, पुस्तकों में कमियाँ उसके परिणाम तथा निवारण के उपाय - 14
3) ज्ञान अमृत भी है ज्ञान मृत भी - 19
4) प्राय: संसार यथार्थ ज्ञान से रहित क्यों ? - 24
5) आचरण प्रयोग के बिना लौकिक या धार्मिक शिक्षा अहितकारी - 38
6) लौकिक एवं धार्मिक शिक्षा/ज्ञान से समुचित विकास के नियम - 42
7) श्रुत ज्ञान एक उपेक्षित, विस्मृत,सर्व कल्याणकारी वैज्ञानिक ज्ञान - 48
8) उच्च शिक्षा की कमियाँ तथा उसे दूर करने के उपाय - 52
9) अच्छाईयों के नाशक रुढिवादी शिक्षा - 56
10) असत्यग्राही पाश्चात्य पिछलग्गु है भारतीय बुद्धि एवं शिक्षा - 61
11) विज्ञान में भी है अज्ञता एवं संकीर्णता - 64
12) नास्ति भी है सत्य एवं सुख प्राप्ति के उपाय - 70
13) विश्व विद्यालय की पुस्तक में जैन धर्म संबंधी भ्रांतियाँ एवं संशोधन - 77
14) हमारी संतान हमसे बेहतर कैसे हो ? - 80

B) **संस्कृति**

1) भारत के पश्चाश्चर्य - 82
2) वैज्ञानिक उपकरणों से लाभ -हानियाँ तथा सुरक्षा के उपाय - 89
3) सम्पूर्ण जीवों का समग्र विकास ही सर्वोदय - 95
4) हीन भावना से रहित होकर भारतीय संस्कृति को अपनाकर भारत पुन: भारत श्रेष्ठ बन सकता है ! - 97
5) पर्युषण पर्वका यह संदेश अहिंसक बनो जैन समाज - 100
6) भारत की दिशा-दशा-आशा - 2015 - 106
7) यदि भारत का महानायक ऐसे हो तो ? - 111
8) पीढियों में अन्तर-संघर्ष कारण एवं निवारण - 114
9) आहार मुद्रा से लगता है महाव्रत में दोष - 120
10) लोकेष्णा (प्रसिद्धि) एक गंभीर मानसिक रोग - 123

पृष्ठ क्रमांक

C) **नारी गरिमा**

1) स्त्री शिक्षा का महत्त्व - 135
2) मुनि द्वारा स्त्री शिक्षा का प्रचार - 141
3) महिला जागृति, सशक्तिकरण, समानाधिकार हो तो कैसे ! - 146
4) अयोग्य है अपनी सच्चाई एवं अच्छाई त्यजना - 151

-: अमृतानुभव :-

असीम अनन्त-अमूर्तिक आकाश भी जिस प्रकार चक्षु से ससीम-नीलावर्ण का दिखाई देता है उसी प्रकार मोह-राग-द्वेष-अज्ञानता या अनुभव के बिना सत्य, धर्म भी विकृत, अयथार्थ, खण्डित दिखाई देते हैं।

आचार्य कनकनन्दी के साहित्य का विमोचन करते हुए
आचार्य श्री अभिनन्दन सागरजी गुरूदेव (नागपुर)

शिक्षा

^l[kh gku dk mik; % x.k&nk"k food* ^^x.kyC/kk Lo;eo lEin%A** ^^lefr tgk lEifÝk fu/kkuk] defr tgk foifn ukukA** ^^fcu tku r nk"k&x.ku dk dl rft, xfg,A** ^^i<ek .kk.k rnk n;k**] ^^lE;d dkj.k tku Kku dkjt** ^^lE;d J)k /kkfj ifu] log lE;XKku(Lo&ij vFk cg /ketr] tk idVkou Hkku** vkfn l= e {kh j&uh food l x.k & nk"kk dk tkudj x.kk d xg.k l rFkk nk"kk d R;kx l l[kh gku d mik; crk; x; gA ftl idkj Hkeo'kr% exejhfpdk dk ikuh le>u okyk ml exejhfpdk l ikuh ikIr ugh dj ldrk g mlh idkj nk"k dk x.k ,o x.k dk nk"k ekuu oky l[k ikIr ugh dj ldr gA ikxyiu] lkbdkfll] U;jkfll] nf'pUrk] fgLVfj;k] vkCl'ku & diy'ku ¼fQrj½] fMi'ku ¼volkn½] Qkfc;k ¼foHkhr½] fLdtkÝkfu;k ¼foHkäeuLdrk½ vkfn LFky ekufld jkx l ihfMr 0;fä ftl idkj vlk/kkj.k lkp&fopkj&0;ogkj djrk g mlh idkj x.k & nk"k & food l jfgr 0;fä Hkh l{e ekufld jkxh g ftldk iHkko xgjk iMrk gA tlk fd exejhfpdk dk ty :i e ifrHkkflr dju okyk Hke l xflr g] mlh idkj vfoodh Hkh] Hky ml lkekU;r% ekufld jkxh ugh ekuk tkrk gA

/ke e x.k&nk"k food %& /ke dk Lo:i g oLr LoHkkokRed ;k vfglk] lR;] vpk;] cãp;] vifjxg] {kek] enrk] ljyrk] 'kfprk] l;e] fuykHkrk] lgtrk] n;k] ijkidkj] lok vkfnA ijr mi;ä x.kk l jfgr tk fglk] }"k] b";k] Åp&uhp] Hkn&Hkko] lDy'k] ckÁ vkMEcj l ;ä gkdj /ke djr g o /ke lEcU/kh x.k & nk"k food l jfgr gA o Lo; l[kh ugh gkr g vkj nljk dk Hkh n%[k igpkr gA tk /ke d uke ij Hkh fglk] }"k vkfn dk ipkj&ilkj djr g ;k tk bl idkj d ipkj&ilkj l iHkkfor gkdj /ke d uke ij fglkfn

djr g] o Hkh l{e ekufld jkx l xflr gA

LoHkko e x.k&nk"k food %& LoHkko lkekU;r% rhu idkj dk gA ;Fkk & 1½ tk nlj tkur g 2½ tk Lo; tkurk g 3½ tk okLrfod gkrk gA 1½ fcYyh vk[k cUn djd n/k ihrh g vkj lkprh g fd e> dkb ugh n[k jgk g fdUr tc M.Mk iMrk g rc ukuh ;kn vkrh gA 2½ ^^eu tku iki** d vulkj dN iki Lo; dk gh irk pyr g ijr nljk dk ughA tl fd & cxy d LoHkko vifjfpr 0;fä ^^cd /;ku** dh ;FkkFkrk dk ugh tku ldrk gA 3½ ^^bRFkho ek;kpkj** vFkkr ^^ fL=;k dh ek;kpkjh** dk tl fd Lo; L=h ugh tku ikrh g vkj nlj Hkh ugh tku ikr gA ijr gkrh g ek;kpkjhA tl fd vk[k Lo; dk ugh n[k ikrh g(vHk0; Lo; dk vHk0; g] ,lk ugh tku ikrk gA

dN 0;fä Lo; ?ke.Mh gkx ijr o LokfHkekuh dk ?ke.Mh ekux vkj Lo; dk foue ekuxA tl fd ,d o';k lrh L=h dk ckyrh g fd ^^ r ?ke.Mh rFkk i{kikrh] Hkn&Hkko dju okyh g blfy, r Lo ifr dk NkMdj vU; fdlh l Hkkx ugh djrh gkA* e foue] i{kikr rFkk Hkn&Hkko l jfgr gku d dkj.k gj fdlh l Hkh Hkkx djrh g tk e> /ku nrk gA** blh idkj pkiylh & i'klk] dk;jrk & vfglk] nCciuk & fouerk] Hkkn & ljyrk] LoPNUnrk &Lor=rk] nklrk & vu'kklu] vU/kkudj.k&x.kxkgdrk] Bxckth&lR;] tMrk&'kkfr] mRÜk[kyrk&rlrjrk@lfØ;rk] dtlh&fer0;;rk] vi0;;&lni;kx] cdokl& leh{kk] fuUnk&vkykpuk ¼ik;f'pÝk lEcU/kh fuUnkfn ugh½] okpkyrk&okXEkh] mRlx@viokn&euekuh vkfn LoHkko e x.k&nk"k food gkuk pkfg,A tk LokfHkekuh gkxk] og vieku dkjd@v;kX; 0;ogkj ugh djxk fdr tk ?ke.Mh gkxk] og ?ke.M d dkj.k vufpr dk; djxk ftlll mldk vieku gkxkA blh idkj pkiylh&i'klk vkfn e Hkh ?kfVr gkrk gA tk LokfHkekukfn vPN LoHkko d /kkjh gkr g o Lo&ij d fy,

l[kdkjh gkr g ijr tk ?ke.M vkfn [kkV LoHkko d gkr g] o Lo&ij d fy, n%[knk;h gkr gA

0;ogj e x.k&nk"k food %& ^^vkReu% ifrdykfu ij"kk u lekpjr** vFkkr & tk 0;ogkj Lo; d fy, ifrdy@n%[knk;h@v;kX; g] og 0;ogkj Hkh nljk d fy, ugh djuk pkfg,A pkj Hkh Lo; dh pkjh] Bx Hkh Lo; dh Bxh] fgld Hkh Lo; dh fglk] Øk/kh Hkh Lo; d ifr Øk/k] vgdkjh Hkh Lo; d ifr vgdkj dk 0;ogkj ugh pkgr g rk Hkh o nljk d ifr ,lk n0;ogkj djr gA ,l 0;fä 0;ogkj e x.k&nk"k food l jfgr gkr gA ijr tk 0;ogkj e x.k&nk"k food j[kr g] o l[kh gkr g rFkk nljk dk Hkh l[k igpkr gA bll foijhr 0;ogkj dju oky Lo&ij n%[knk;h cur gA

vudj.k e x.k&nk"k food %& ^^vdy lfgr udy** djuk Hkh f'k{kk g ftl x.kxkgdrk dgr gA vdy fcuk udy djuk Q'ku g] ftl vU/kkudj.k ;k HkMpky dgr gA ^^n[kn[kh lk> ;kx] Nht dk;k ck< jkxA** ^^pkCc th NCc gku d fy, x;] jg x; nCc** ^^vU/kkudj.k egkiki**] nklkuofÝk] ekufld xykeh vkfn fo'k"k.k mud fy, lkFkd gkr g tk vudj.k e x.k&nk"k food ugh j[kr gA ^^egkrtu ;u xrk l iUFkk**] ^^;r ;r vkpfjr io% rr rr brjtu%**] oUn rnx.k yC/k;**] vkn'k&vudj.k] lRlxfr] lf'k{kk] lLdkj vkfn vydj.k mud fy, g tk vudj.k e x.k&nk"k food j[kr gA Lo&n0;&{k=&dky&Hkko vFkkr Lo&;kX;rk] ifjfLFkfr] vk;] lEifÝk] lL—fr] cf) vkfn d ;kX; tk vudj.k g] og rk l[k d fy, dkj.k g ijr bld foijhr n%[k d fy, dkj.k gA vfHkurk&vfHku=h] f[kykMh] /kuh 0;fä] fon'kk dh vilL—fr dh udy djuk Lo; dh ncyrk] fiNMkiu] rPNrk gA tl fd xkMh pyu ij mld fiN frudk] /kyh mMr g, pyrh g ijr igkM] ior] ?kj vkfn ughA Bhd mlh idkj

rPN 0;fä ,o egku 0;fä;k dk 0;ogkj gkrk gA tl fd tyr g, nhid l c>k gvk nhid tydj Lo&ij dk idk'k nrk g mlh idkj x.kxkgh gkrk gA fdr lM g, Qy d lEid e vkdj tl vU; Qy Hkh lM tkr g] ol gh udyph] Q'kuh vU/kHkä gkr gA

ekgu lor Kku LoHkko yHkr ughA
eŸk% i|eku inkFkkuk ;Fk enudkno%AA

vFkkr tl fd endkjh dkn d lou l ¼;k e| d lou l ½ u'k l eŸk 0;fä fgrkfgr food l jfgr gkdj ;}kr}k lkprk g] cdrk g] djrk g ol gh ekg ¼feF;kRo] d"kk;½ l vkof'kr 0;fä Hkh gkrk gA bll fHk™k&

jfgeu tk uj lTtu i—fr D;k dj ldr dlxA
pUnu fo"k 0;kir ugh fyiV jgr Hktx AA
dEek.kHkkonfgnk ,o ekg/k;kjxg.kfEeA
v/kk o nXxeXx Hkefn g llkjdrkjAA 1788

vFkkr bl idkj vlkrkonuh; vkfn ikidek d iHkko l n%[kh tho ekg:ih v/kdkj l xgu llkj:ih ou e mlh idkj Hke.k djrk g tl vU/kk 0;fä nxe ekx e HkVdrk gA

nD[kLl ifMxjrk lgfePNrk ; rg bek thokA
ik.ko/kknhnkl djb ekg.k lN..kkAA 1789 Hk-vk-

vFkkr ekg l vkPNkfnr ;g tho n%[k l cpu dk mik; djrk g vkkj bfUn; l[k dh vfHkyk"kk j[krk g vkj mld fy; fglk vkfn nk"kk dk djrk gA vk'k; ;g g fd n%[k l Mjrk fdUr leLr n%[kk d fouk'k dk mik; ugh tkurk A ;|fi n%[kk dk nj djuk pkgrk g fdr fglk vkfn ikik e ioRr gkrk g tk n%[k d gr gA bfUn; l[k dk yEiVh gkr g, mUgh fglk vkfn ikik e yxk jgrk g tk n%[k d dkj.k gA blfy, mldk lc dke n%[k dk gh ey gkrk gA

Hkkjrh; f'k{kk d mn:n';] i)fr] i|Lrdk e dfe;k mld ifj.kke rFkk fuokj.k

1- mÌ'; & f'k{kk dk mÌ'; lokxh.k fodkl g rk mle fQj fo'k"kr% Hkkjrh; f'k{kk dk mÌ'; rk thou fuokg] lokxh.k&lkoHkke fodkl d lkFk lkFk ije lR; dh miyfC/k] vk/;kRe&T;kfr dh ikflr l ;ä ver Lo:i cuuk gA ijr vHkh f'k{kk dk mÌ'; lk{kjrk ¼o.kekyk dk Kku½ gLrk{kj djuk] ijh{kk e ikl gkuk] fMxh ikIr djuk] ukdjh ikIr djuk] lkekftd ekU;rk] ifr"Bk ikIr djuk] ldh.k LokFk flf) d xj ¼mik;½ lh[kuk] fookg dh ;kX;rk ikIr djuk] le; dkVuk vkfn&vkfn gA

2- i)fr & Hkkjr e ikphu dky e f'k{kk ;kX; & fo|kFkh d 'kkjhfjd] ekufld fodkl gku d ckn ;kX; f'k{kd }kjk ldh.k LokFk l jfgr gkdj vkReh;rk l vd&v{kj f'k{kk l ydj ;Fkk ;kX; leLr ykfdd] vk/;kfRed fo|k dk vf/kxe djk;k tkrk Fkk ftld QyLo:i Hkkjr vFk l ydj ikjekfFkd] ykfdd l ydj vk/;kfRed —f'V l lEi™k] J"B] T;"B jgk ftld dkj.k Hkkjr ^^fo'ox#** dgyk;kA fdr oreku e Hkkjr e Åij of.kr ldh.k mÌ'; l ifjr f'k{kk i)fr vunkj gA iFker% ftl vfodflr ldekj f'k'k voLFkk e ekrk dh lj{kkRed okRlY;e;h xkn@lok@ fudVrk pkfg, ml voLFkk e f'k'k dk vifjfpr —f=e] n.MkRed okrkoj.k e {kerk] bPNk] :fp d foijhr vkipkfjd jVUr f'k{kk nh tkrh gA ekle f'k'k dh ekufld leL;k] ihMk ml le; l vkj Hkh c< tkrh g ftl le; e Lo ekrHkk"kk l Hkh vifjfpr f'k'k e ,d fon'kh xykeh Hkk"kk d ek/;e l tkudkfj;k Blh tkrh gA ftl dkey ekle dyh dk ik—frd :i l eä f[kyuk pkfg, ml doy mijkä ekufld ?k"k.k l dpyk gh ugh tkrk ijr Ldy cx d ncko l ml nckfn;k tkrk g(ftld dkj.k mld lokxh.k fodkl d cny e ik;% mudk fouk'k gkrk gA vr,o ,lh f'k{kk ikIr ik;%

n'k&fon'k d dkb Hkh 0;fä egku dk; dju e l{ke ugh gkr gA Hky gh n"V dk; djd d[;kr D;k u gkr gkA ,lh f'k{kk l rhFkdj] x.k/kj] _f"k] c)] egkRek] ;xi#"k] vkn'k i#"k] lekt l/kkjd] rŸooŸkk] nk'kfud] U;Vu] ,fMlu] vkbULVhu] ik;Fkkxkjl tl oKkfud Hkh ugh cu ldrA Hky ,lh f'k{kk l fMxh/kkjh ukdj] ukdj'kkgh] Q'kuh&0;luh] vkylh] cjktxkjh djkMk dh l[;k e cu ldr gA

3- ikBÓiLrd & lkfgR; ni.k d leku gA lery LoPN ni.k d leku lr&lkfgR; 0;fä l ydj jk"V dk ;FkkFk ifrfcEc dk n'ku djkd nk"kk dk LoPN dju e vkj llfTtr dju e lg;kxh curk gA ijr vlery] vLoPN ni.k d leku vlR; lkfgR; v;FkkFk ifrfcEc dk n'ku djkd fo—r dju e vkj v0;ofLFkr] mRÜk[ky] fouk'k dju e lg;kxh curk gA ikBÓiLrdk e Hkk"kk] 0;kdj.k] dky] {k=] 0;fä] dk;] LoHkko] lR;&rF;kRed vud xyfr;k] Hkkfr;k] dfe;k ik;h tkrh gA ;Fkk &

iLrdk e vud Hkk"kkxr 0;kdj.k lEcU/kh xyfr;k jgrh gA Hkkjr dh lL—fr dk 5000 o"k ikphu ekuuk] ckgj l vk;k dk vkxeu] vk;k d vkxeu l igy ;gk d fuokslh vuk; ¼nkfoM] EyPN] vlH;½ FkA okLdkfMxkek ¼dkyEcl½ u Hkkjr dh [kkt dh] n";Ur 'kdryk d i= d uke ij gekj n'k dk uke Hkkjr iMk] vdcj egku vkfn ,frgkfld xyfr;k gA Hkkjr dk xyke cuku d fy,] 'kk"k.k dju d fy, tk dkuu fonf'k;k d }kjk cuk;k x;k Fk ik;h ogh dkuu vHkh Hkh Hkkjr e gA vud fon'kh lfo/kkuk dk rkM&ejkM dj Hkkjrh; lfo/kku cuk;k x;k g tcfd Hkkjr dh lL—fr] lH;rk] Hkkxkfyd ifjfLFkfr] ijijk] Hkk"kk] ekufldrk] mÌ';] io] jhfr & fjokt fon'kk l fHk™k gA gekjh lL—fr vkfn d vudy lfo/kku] dkuu vkfn cukuk doy vko';d gh ugh] fo/k; ,o vfuok; Hkh gA

foKku dh iLrdk e ;g deh g fd ftu fl)kUrk dk

ikphu Hkkjrh; oKkfudk u fl) fd;k g] mudk o.ku de ik;k tkrk gA bruk gh ugh ikphu Hkkjrh; oKkfudk d lR;&rF;kRed fl)kUr Hkh tc rd fon'k d oKkfud lgh ugh ekur g rc rd ml ikBÓiLrdk e ugh fn;k tkrk g Hky fon'kh oKkfudk d fl)kUr ifjdfYir@Hkei.k@vi.k D;k ugh gk ml vo'; ikBÓiLrdk e Lohdkj djr gA bld lfoLrkj o.ku eu ejh ¼vk- dudunh½ 1½ iFke 'kk/k&ck/k&vkfo"dkj] 2½ fo'o n0; foKku] 3½ cãk.Mh; tfod Hkkfrd ,o jlk;u foKku] 4½ vuUr 'kfä lEi™k ijek.k l ydj ijekRek] 5½ lokn; f'k{kk eukfoKku] 6½ Hkkjrh; vk; vkfn iLrdk e fd;k gA ikFkfed ljy mnkgj.k¼ Hkkjrh; ;kx] 'kkdkgkj] vk;on] ik—frd ilk/ku lkexh vkfn dk tc fon'k d ykx egRo nu yx rc Hkkjr d ykx Hkh ml /kh&/kh egRo n jg g rFkk ikBÓiLrdk e egRo n jg gA fofHkUu fo/kkvk d ikB;iLrdk e fu"i{krk] ikjnf'krk] xgu&xHkhjrk] lR;&rF;kRed fo"k; oLr] lR;xkfgrk] mnkjrk] oKkfud rVLFk & leh{kk rFkk lki{kfl)kUr] ikfjfLFkfrdh de ikb tkrh g fdr ldh.k er&iFk] ijEijk] jktuhfr dk leko'k ik;k tkrk gA vfgllk] vk/;kfRedrk] de fl)kUr] vfrekuoh;&'kfä vkfn vkfn dk vHkh Hkh 0;kid :i l ikBÓiLrdk e Lohdkjk ugh fd;k x;k gA {k=okn] tkfrokn] ik'pkR; vU/kkudj.k vkfn d feJ.k Hkh ikBÓiLrdk e ik; tkr gA

xf.kr lcl vf/kd lR;&rF;kRed fo"k; gku d dkj.k xf.kr dh ikBÓiLrdk e ol dkb fo'k"k xyfr;k ugh g rFkkfi fgnh in'k e fgnh d vd ¼uEcj & ;Fkk 1] 2] 3] 4½ i;kx ugh gkrk g vkj uk gh fl[kkr g] ftll ikphu lkfgR;k] y[kk e tk xf.kr vkfn dk i;kx g mll ofpr gk tkr gA ikphu Hkkjrh; xf.kr dk leko'k ikBÓiLrdk e ugh gku l doy ikphu Hkkjrh; xf.kr l gh ofpr gkuk ugh g ijr ikphu egku xHkhj rRo Kku] vk/;kRe Kku] [kxky Kku l ofpr gkuk gA bld lkFk lkFk ikphu xf.krKk] oKkfudk] y[kdk] egki#"kk d pfj=] bfrgkl] dk;&dykik dk

bruk o.ku ugh ik;k tkrk g ftruk o.ku fon'kh vkØkrk] yVj] fo/old] Hkkjr dk xyke cuku okyk dk gA budk o.ku iujkofÝk :i l fuEu d{kkvk l ydj mPp d{kk rd e fd;k tkrk gA bl gh bfrgkl] lkekU; Kku dgr jgr g] ekur gA Hkkjrh; J"B Hkk"kkvk d Kku d ifjoru e fon'kh Hkk"kk vxth dk vuko';drk :i l vfr egÝo nu d dkj.k doy Hkkjrh; Hkk"kk d egÝo l gh ofpr gkuk gh ugh g vijp mu Hkk"kkvk d lkfgR; e fughr Kku f0kKku l ofpr gkuk gA vk/kfud oKkfud 'kk/kk l Hkkjrh; Hkk"kk] Kku & foKku] vk/;kRe] vk;on] ;kx & /;ku] lL—fr] lH;rk] Hkktu vkfn J"B] T;"B ije oKkfud fl) gkrk tk jgk g fdr Hkkjrh;k dh v;kX;rk d dkj.k Hkkjrh; mR—"Vrk mif{kr g] viekfur g] fo—r gA

oKkfud ,oa oKkfud dkn & doy fo|ky; l ydj fo'o fo|ky;k e mi;ä dfe;k vkfn ugh ikb tkrh g ijr de clh Hkkjrh; oKkfud ,o oKkfud dnk e Hkh ik;h tkrh gA bld fy, vU;kU; vud mnkgj.kk d lkFk lkFk e Lo; ¼vk- dudunh½ Hkä Hkkxh gA ukcy ijLdkj fotrk oKkfud gjxkfoUn [kjkuk dk Hkkjr e ,d lkekU; ukdjh ugh feyh rk egku xf.krK jkekutu dk dkb egRo ugh fn;k x;kA ejk Lo; dk bl lcU/kh nh?kdkyhu vud vuHko gA e ik;¼ 30 o"kk l foKku d v.k fl)kUr] Hkkfrd foKku] jlk;u foKku] idk'k fl)kUr] xfr fl)kUr] Mkfou dk fodklokn] U;Vu d fl)kUr] o.k ¼jx½ fl)kUr] ftuke fl)kUr] Ýk;M d fl)kUr] egk foLQkV vkfn lc/kh dfe;k dk ikQ l l] oKkfudk] foKku d dnk dk crk jgk g rFkkfi o rc rd ugh ekur g tcrd fon'k d oKkfud ugh ekur gA bruk gh ugh foKku lEcU/kh tk ej fyf[kr rFkk ekf[kd i'u g mldk lgh mÝkj ugh nr gA tk dN mÝkj nr g og Hkh iLrdh;] jV jV;k] fil&fil;k] :f<oknh mÝkj nr gA Hkkjr e ifrHkk dk lni;kx ugh fd;k tkrk gA Hkkjrh; ifrHkk tc fon'k e tkrh g rc ml dk lkoHkke lefpr

fodkl gkrk gA fon'k e Hkkjr dh ifrHkk oKkfud] MkDVj] m|kxifr :i l ped jgh gA D;kfd fon'k e ;kX; okrkoj.k] lg;kx] ikRlkgu] lni;kx] ijLdkj] i'klk] midj.kkfn ikIr gkr gA Hkkjr e mi;ä vPNkb;k dh deh gA bu dfe;k dk nj djd gekjh ifrHkkvk dk leLr ;kX; {k= e vkx c<kuk doy vko';d gh ugh ijr vfr vfuok; g A D;kfd Hkkjrh; lL—fr] vk/;kfRedrk l ;ä ifrHkkvk l fo'o dk ;kX; lefpr fodkl d lkFk lkFk fo'o e l[k] lef) ,o 'kkfr dh LFkkiuk lHko gA bl i;kl e e lrr lyXu g rFkk fofHk"k {k= e e> lQyrk Hkh ikIr gk jgh gA bl Ük[kyk e ej dN oKkfud f'k";k dk ¼Mk- jktey tu] Mk- ukjk;.k yky dNkjk½ fon'k e /ke ipkj d fy, Hktk g vkj vkx Hkh Hktxka Hkkjr e Hkh lkfgR; y[ku] lxk"Bh] f'kfoj] d{kkvk d ek/;e l ;g dk; dj jgk gA f'k{kk e ifjoru d fy, Hkh tk i;kl py jg g mle Hkh lQyrk fey jgh gA

/kkfed 0;fä] lekt] lxBu & /kkfed 0;fä] lekt] lxBu e Hkh /kkfed f'k{kk e mnkjrk] 0;kidrk] x.kxkgdrk] ijerlfg".krk] vU; 0;fä&lekt&lxBu l leUo; dh deh ikb tkrh gA o /kkfed :f<okn & erokn & ijEijkokn l vkof'kr gkdj /kkfed f'k{kk dk xg.k] ipkj&ilkj djr gA /ke d lkjHkr lR;] vfglk] ljy&lgtrk] mnkjrk] 0;kidrk] 'kkfr] e=h] ijkidkj] oKkfudrk] ixfr'khyrk] leUo;] njnf"V lEi™krk] ikekf.kdrk] dr0;fu"Bk] lknk thou mPpfopkj vkfn l ik;¼ /kkfed f'k{kk ofpr jgrh gA blfy, ,lh /kkfed f'k{kk l ifjr 0;fä] lekt] lxBu e Hkh mi;ä /ke d lkjrÝo d vHkko l doy /kkfed fuLlkjrk] dBkjrk] ckáMEcj] Hkn&Hkko] ?k.kk] lDy'k] ;)] dyg vkfn ik; tkr gA

ज्ञान- अमृत भी है ज्ञान मृत भी है ।

(आधुनिक शिक्षा तथा परीक्षा फल जीवन जीने के लिए असफल बनता जा रहा है ।)

(परीक्षा के तनाव ने छीनी नौ किशोरों की जिंदगी केवल एक माह में आधा दर्जन से ज्यादा विद्यार्थियों ने आत्महत्या कर ली, शैक्षिक व्यवस्था पर खडे हुए सवाल) - एक समाचार

''णाणं पयासणं'' नहि ज्ञानेन सदृश्यं पवित्रमहि विद्यते'' ''ज्ञानामृतं'' ''Knowledge is suprem light.{ Knowledge is suprem power'' कहा है। इससे विपरीत ''विद्याविहीनं पशु'' ''सर्वस्य लोचनं शास्त्रं, यस्य नास्ति अन्ध एव स:'' ''अणाणि किं जाणइ पुण्णं पापगं सेयं असेयं'' ''पढमं णाणं तदो दया'' कहा है।

अत: मोक्षमार्ग में सम्यग्ज्ञान को सम्यग्दर्शन एवं सम्यक्चारित्र के मध्य में रखा गया है क्योंकि सम्यग्ज्ञान , सम्यग्दर्शन एवं सम्यक्चारित्र को प्रकाशित करता है, शुध्द करता है, सम्बल देता है।

साक्षरता ,शिक्षा, साहित्य, अध्ययन -अध्यापन से वस्तुस्वरूप, सत्य स्वरूप, विश्वस्वरूप, स्वस्वरूप, भूत का ज्ञान , वर्तमान का कर्तव्य एवं भविष्य का लक्ष्य/प्राप्त का ज्ञान होता है। इसलिए ही जिस व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र में शिक्षा का प्रचार-प्रसार है वे ज्योतिर्मय, उन्नतमय बनते हैं, इससे विपरीत अशिक्षादि से अंधकारमय, पतनमय बन जाते हैं; परंतु केवल साक्षरता (अक्षर ज्ञान, वर्णमाला ज्ञान, लिखने-पढने से) महान् कार्य संभव नहीं है। वस्तुत: साक्षरता का अर्थ है (स+अक्षर, अ+क्षर) (साश्वतिक सत्य) सत्य से युक्त अमृत स्वरूप होना, मोक्ष प्राप्त करना। इसीलिए तो ''सा विद्या या विमुक्तये'' ''ज्ञानेन अमृतमश्नुते'' कहा है। इस विद्या से युक्त अन्य ज्ञान भी समीचीन होता है, अन्यथा ज्ञान/मिथ्या/कुज्ञान/अज्ञान/मृत हो जाता है।

हितकर, मित, भोजन, समयानुकूल सात्विक भोजन को योग्य पद्धति से खाने के बाद भी वह भोजन यदि सही रुप में पचता है तो उससे रस, ऊर्जा, स्वास्थ्य, जीवन आदि प्राप्त होते हैं ; परंतु अहितकर, अति भोजन, समय-प्रतिकूल, असात्विक भोजन को अयोग्य पद्धति से खाने पर या नहीं पचने पर उससे रस के परिवर्तन में मल, ऊर्जा के बदले में बल हानि तथा स्वास्थ्य के बदले में रोग तथा मरण प्राप्त होते हैं। ऐसा ही ज्ञान रूपी भोजन के बारे में जानना चाहिए। इसके स्पष्टीकरण के लिए दैनिक भास्कर में प्रकाशित कुछ विवरण को प्रस्तुत कर रहा हूँ -

आठवी कक्षा के छात्र सोहन उर्फ सोनु को अनुत्तीर्ण होने पर इतना जोरदार मानसिक झटका लगा कि उसने आत्महत्या कर ली। आठवीं का भावेश भी इस तरह जान दे बैठा। कॉलेज छात्रा नीतू और सईना भी कम अङ्क मिलने पर झटका सहन नहीं कर सकी और आत्महत्या जैसा कदम उठा लिया।

केवल ये चार घटनाऐं ही नहीं हैं। ग्यारह अप्रेल से दस मई के बीच एक माह में जिले के नौ विद्यार्थियों ने परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं होने अथवा स्तरीय अङ्क नहीं मिलने पर आत्महत्या जैसा कदम उठाया। इनमें तीन आठवीं कक्षा के विद्यार्थी हैं जो शिक्षा और उम्र दोनों लहजे से कच्चे होते हैं। पांच विद्यार्थी उच्च शिक्षा प्राप्त कर रहे थे। वे उम्र व दिमाग दोनों से परिपक्व थे, लेकिन रोजगार के लिए शिक्षा में चल रही प्रतिस्पर्धा ने उनके दिमाग को इतना कमजोर कर दिया कि आत्महत्या के अलावा कोई रास्ता नहीं सूझा। विद्यार्थियों द्वारा आत्महत्या करना समाज के लिए सबसे ज्वलंत मुद्दा होना चाहिए, लेकिन इसको हलकेपन से लेने के कारण इन घटनाओं में इजाफा हो रहा है। वर्तमान शैक्षिक व्यवस्था इसके लिए जिम्मेदार साबित हो रही है। जहाँ नैतिक शिक्षा में विद्यार्थी यह नहीं सीख पा रहे हैं - आत्महत्या सबसे बडी कायरता है।

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद (एन.सी.इ.आर.टी.) ने विद्यार्थियों को आत्महत्या व अन्य कुसङ्गतियों से बचने के लिए स्कूलों में मनोवैज्ञानिक परामर्शदाता की नियुक्ति को आवश्यक बताया था जिसको केन्द्रीय माध्यमिक शिक्षा बोर्ड तथा मानव संसाधन विकास मंत्रालय ने भी उचित मानते हुए स्कूलों में मनोवैज्ञानिक परामर्शदाताओं की नियुक्ति का आदेश जारी किया। यह आदेश अन्य राज्यों में भी क्रियान्विति के लिए भेजा गया। राजस्थान से बाहर सीबीएसई के कई स्कूलों में ऐसे परामर्शदाताओं की नियुक्ति हो चुकी है लेकिन राजस्थान में इस दिशा में कदम नहीं उठाया गया है। राज्य के सरकारी स्कूलों में भी मनोवैज्ञानिक परामर्शदाता के बारे में सोचा नहीं गया है। यह दुर्घटना केवल उदयपुर जिले की ज्ञात दुर्घटनाऐं हैं। अज्ञात दुर्घटना और भी अधिक संभव है। पुन: पूर्ण राजस्थान में तथा भारत में कितनी दुर्घटना होती है उसका एक सहज अनुमान लगा सकते हैं। शीघ्र इसका निदान हो ऐसा कार्य हम सब को मिलकर करना चाहिए।

उपर्युक्त दुर्घटना के लिए विभिन्न शिक्षा शास्त्री तथा शिक्षा राज्यमंत्री के अभिप्राय तथा सुझाव निम्नोक्त हैं - जो कि एकाङ्गी, पक्षपात पूर्ण, अव्यापक, दूसरों के ऊपर उत्तरदायित्व का आरोप लगाने वाला, स्व उत्तरदायित्व से पलायनवादी, अवैज्ञानिक पद्धति से युक्त है।

शिक्षक, अभिभावक व विद्यार्थी को एक साथ जोडा जा रहा है ताकि शिक्षक व अभिभावक के बीच घरेलू संबंध बने। विद्यार्थी के प्रत्येक दु:ख-दर्द व परेशानी की जानकारी शिक्षक को हो। **(वासुदेव देवनानी, शिक्षा राज्य मंत्री राजस्थान सरकार)**

अभिभावकों को अपने किशोर बच्चों को जीवन में जीत के साथ हार का भी सामना करने के लिए तैयार करना चाहिए। बच्चों को स्वयं की क्षमताओं व योग्यता से अवगत कराएं व इसी के अनुरूप महत्वाकांक्षा पालने दें। **(श्रीमती कृष्णा चौहान, प्राचार्य, जिला शैक्षिक प्रशिक्षण संस्थान)**

विद्यार्थियों में बढते तनाव को कम करने के लिए पारिवारिक माहौल को सुधारना होगा। अभिभावक अपने बच्चों को समाज में दूसरे बच्चों के समकक्ष खडा देखने की महत्वाकांक्षा पालते हैं लेकिन वे ये नहीं समझते कि हर एक बच्चे की अपनी पृथक्-पृथक् क्षमतायें व सीमायें हैं। **(अम्बालाल पालीवाल, प्राचार्य राजकीय सीनियर सेकंडरी विद्यालय, बेदला)**

अभिभावक को चाहिए कि बच्चों को बचपन से जीवन के प्रति प्रेम और परिवार, समाज व देश के प्रति स्वयं की जिम्मेदारी की समझ पैदा करें। उन्हें ये बतायें कि उनके जीवन पर केवल उनका ही नहीं बल्कि परिवार, समाज और राष्ट्र का भी अधिकार है। **(डॉ.गायत्री तिवारी, सहायक प्राध्यापक, कृषि एवं प्रौद्योगिकी विश्व विद्यालय)**

अगर समय पर उचित परामर्श मिले तो हर हाल में आत्महत्या को रोका जा सकता है। इसके लिए सबसे पहली सीढी स्कूल है जहाँ मनोवैज्ञानिक परामर्शक होना अत्यन्त आवश्यक है। **(मदन मोदी, परामर्श एवं पैरवी केन्द्र के प्रमुख)**

आत्महत्या के कारण

1) विद्यार्थी – इसके लिए स्वयं विद्यार्थी भी कारण है। जो विद्यार्थी पढाई को जीवन का सर्वस्व मानते हैं; परीक्षा की सफलता को ही जीवन की सफलता मानते हैं, दूसरों के उपेक्षापूर्ण व्यवहार को अतिमहत्व देकर स्वयं को हीन-दीन, अयोग्य मानते हैं; असफलता से भी सफलता का शुभारंभ होता है ऐसा जो नहीं जानते हैं, परीक्षा रूपी प्रतिस्पर्धा में पिछडापन को ही जीवन का पिछडापन मानते हैं ऐसे विद्यार्थी शैक्षणिक फोबिया, परीक्षा फोबिया, डिप्रेशन, तनाव, हीन ग्रंथी, अवसाद, मानसिक विच्छेदन आदि से ग्रसित होकर आत्महत्या तक कर लेते हैं।

2) माता-पिता, अभिभावक, मित्र तथा समाज – माता-पिता चाहते हैं कि हमारे बच्चे येन-केन प्रकार से परीक्षा में अच्छे नम्बर लावे और अच्छी नौकरी प्राप्त

करें। इस अभिप्राय से प्रेरित होकर वे विद्यार्थियों को हर समय प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से दबाव डालते रहते हैं। जिसके कारण विद्यार्थी का मानसिक विकास के साथ-साथ शारीरिक विकास भी सही रूप से नहीं होता है। विद्यार्थी हर समय आशंकित, भयभीत तथा तनाव युक्त रहता है। कम नम्बर आने पर प्रताडना भी मिलती है। माता-पिता बाल मनोविज्ञान व शिक्षा मनोविज्ञान से अनभिज्ञ रहते हैं। केवल पुस्तकीय रटन्त विद्या को ही योग्यता तथा परीक्षा की सफलता को ही जीवन की सफलता मानते हैं। इसी प्रकार परिवार के सदस्य, मित्र तथा समाज के लोगों का भी व्यवहार उपर्युक्त प्रकार का रहता है।

3) शिक्षक, शिक्षा पद्धति एवं परीक्षा प्रणाली – योग्य शिक्षक, शिक्षा पद्धति एवं परीक्षा पद्धति के अभाव से भी उपर्युक्त समस्या उत्पन्न होती है। शिक्षक में आत्मीयता, प्रेम, योग्यता, पढाने की पद्धति, समयानुबद्धता, अनुशासन आदि के अभाव से विद्यार्थी सही रूप में विद्याध्ययन नहीं कर पाते हैं, अध्ययन में रुचि नहीं ले पाते हैं, विषय का अधिगम सही रूप से नहीं कर पाते हैं जिससे वे विषयों को स्मरण भी नहीं रख पाते हैं जिसके कारण परीक्षा में उत्तर भी सही नहीं लिख पाते हैं। इतना ही नहीं शिक्षक विद्यालय में तो पढाते नहीं हैं क्योंकि सही पढाने पर विद्यार्थी ट्यूशन, कोचिंग नहीं करेंगे जिससे उनका आर्थिक शोषण नहीं हो पायेगा। शिक्षा पद्धति भी संकीर्ण, अपूर्ण तथा अवैज्ञानिक है। केवल पुस्तकीय रटन्त विद्या को ही भारत में ज्ञान मान लिया जाता है, उस पुस्तकीय लिखित या मौखिक परीक्षा को ही योग्यता मान लिया जाता है जिससे विद्यार्थी का सर्वांगीण विकास नहीं हो पाता है और उसका सर्वांगीण मूल्याकन नहीं हो पाता है।

उपर्युक्त समस्याओं के समाधान का एक और उपाय है, वह है अपनी-अपनी योग्यता का स्व-स्व क्षेत्र में समुचित विकास एवं प्रायोगिकरण। यथा जिसकी योग्यता गणित में है तो उसे गणित में तो जिसकी योग्यता विज्ञान में है तो उसे विज्ञान में समुचित शिक्षण/प्रशिक्षण प्रदान करके उसका सदुपयोग रूपी प्रायोगिकरण करना चाहिए। इसी प्रकार धर्म, दर्शन, भाषा, कला, वाणिज्य, शिल्प, वास्तुकला, चित्रकला, कृषि, कुटीरशिल्प, पशु पालन, सेवा, वृक्षारोपण, समाजसुधार, चिकित्सा आदि में भी जान लेना चाहिए। क्योंकि प्रत्येक की योग्यता, रुचि, उद्देश्य, भावना पृथक्-पृथक् होती है जिससे उस-उस क्षेत्र में उसका समुचित विकास एवं प्रायोगिकरण सही रूप में संभव है। यथा कि महान् गणितज्ञ रामानुजन अन्य विषय में अनुत्तीर्ण होने पर भी गणित में श्रेष्ठ थे, ज्येष्ठ थे। इसी प्रकार एडीसन, न्यूटन, आइन्स्टीन, रविन्द्रनाथ ठाकुर, कबीर, बुद्ध, ऋषि-मुनि, तीर्थङ्कर, आविष्कारक, खोजी, उद्योगपति, कवि, लेखक, दार्शनिक, संगीतकार, चित्रकार, कृषक, श्रमिक आदि के बारे में भी जान लेना चाहिए। जिस प्रकार लता का

विकास लता के रूप में ही संभव है उसी प्रकार नारियल वृक्ष का विकास नारियल वृक्ष रूप में ही होगा न कि लता नरियल वृक्ष के रूप में तथा नारियल वृक्ष लता के रूप में विकास कर सकता है । इसका वैज्ञानिक एवं धार्मिक कारण है कि स्व-स्व डी.एन.ए., आर.एन.ए, कर्म या संस्कार। बगुला तथा हंस, कोयल तथा कौआ में जैसा अन्तर है उसी प्रकार स्थूल या सूक्ष्म अन्तर प्रत्येक जीव में होता है।

यह कोई अनिवार्य सिद्धान्त नहीं है कि जो स्कूल की पढाई में अयोग्य है वह अन्यान्य हर क्षेत्र में अयोग्य ही होगा। अनेक B.Com., M.Com. डिग्रीधारी, अनक्षरी या अल्पशिक्षित के नौकर होते हैं और मालिक के आदेश, निर्देश के अनुसार कार्य करते हैं। स्कूल की पढाई से घृणा करने वाले रविन्द्रनाथ ठाकुर, स्कूल से निष्कासित एडिसन, पढाई में पिछडे न्यूटन, आइन्स्टीन आदि को ध्यान में रखकर विद्यार्थी, अभिभावक,शिक्षक, शिक्षा विभाग, समाज, सरकार, कानून आदि को समुचित कार्य करना चाहिए नहीं तो केवल कागजी डिग्री यथार्थ योग्यता को भस्म करती रहेगी जैसा कि वैज्ञानिक हरगोविन्द खुराना आदि के साथ हुआ।

निष्कर्ष :- मुझे (आ.कनकनंदी) उपर्युक्त कमियाँ तथा गलतियों के बारे में बहुत ही वर्षों से परिज्ञान हो गया था जिसके कारण मैंने इन कमियों को दूर करने के लिए ''सर्वोदय शिक्षा मनोविज्ञान'' रचना की तथा इस ग्रंथ के ऊपर दो राष्ट्रीय संगोष्ठियों का भी आयोजन हुआ है। इतना ही नहीं निम्न कक्षा से लेकर उच्च कक्षा के विद्यार्थी एवं प्राचार्य तक को पढाता हूँ, स्कूल, कॉलेज शिविर लेता हूँ। राष्ट्रीय एवं प्रादेशिक शिक्षा अनुसंधान केंद्रों के निर्देशक, कार्यकर्ता आदि को शिक्षा में परिवर्तन के लिए सुझाव एवं मार्गदर्शन दे रहा हूँ। वैसे तो मेरे उद्देश्य, भावना एवं पद्धति को सब स्वीकार करते हैं और यथा सम्भव परिवर्तन के लिए भी कोशिश कर रहे हैं, परंतु जितना प्रयास तथा परिवर्तन होना चहिए वह अपर्याप्त है, अपूर्ण है। इस दिशा में विद्यार्थियों से लेकर माता-पिता, समाज, शिक्षा, शिक्षक, शिक्षा विभाग, कानून तथा सरकार को भी समुचित प्रयास करना केवल अनिवार्य ही नहीं आवश्यक भी है, अन्यथा जो शिक्षा मुक्ति के लिए है, वह बंधन के लिए, जो ज्ञान अमृत स्वरूप है वह मृत्यु के लिए , जो शिक्षा सर्वाङ्गीण विकास के लिए है वह शिक्षा विनाश का कारण बन जाएगी। हमें भारतीय शिक्षा एवं आधुनिक वैज्ञानिक शिक्षा पद्धति का समन्वय करके पुन: भारत को विश्वगुरु बनाना है इस उद्देश्य से प्रेरित होकर यह सब प्रयत्न कर रहा हूँ।

प्राय: संसार यथार्थ ज्ञान से रहित क्यों?

यथार्थ ज्ञान के अभाव के कारण तथा निवारण

सम्पूर्ण चराचर ब्रह्माण्ड में मुख्यता दो तत्व हैं (1) ज्ञान (2) ज्ञेय। ज्ञान के माध्यम से ज्ञाता स्वज्ञेय के साथ - साथ यथा योग्य परज्ञेय को भी जानता है। ज्ञान ही स्व-पर, हित -अहित , ग्रहणीय-त्यजनीय, ज्ञेय-हेय -उपादेय, सुख-दु:ख, करणीय-अकरणीय, सत्य - असत्य, अच्छा-बुरा आदि को जानता है, मानता है, स्वीकारता है, अनुभव करता है। ज्ञान के अभाव से यह सब संभव नहीं है। यहाँ तक कि ज्ञान के अभाव से ज्ञेय/वस्तु/पदार्थ/सत्य/ब्रह्माण्ड का भी परिज्ञान नहीं होता।

इसीलिए ही तो ''णाणं पयासणं '' ''नही ज्ञानेन सदृश्यं पवित्रमिहविद्यते'' ''ज्ञानामृतं'' "Knowledge is Supreme light" "Knowledge is Supreme Power" कहा है। इससे विपरीत ''विद्याविहीनं पशु'' ''सर्वस्य लोचनं शास्त्रं, यस्य नास्ति अन्ध एव स: '' ''अणाणि किं जाणइ पुण्णं पापगं सेयं असेयं '' ''पढमं णाणं तदो दया ''कहा है। अत: मोक्षमार्ग में सम्यग्ज्ञान को सम्यग्दर्शन एवं सम्यक्चारित्र के मध्य में रखा गया है। क्योंकि सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन एवं सम्यक्चारित्र को प्रकाशित करता है,शुद्ध करता है, सम्बल देता है। वस्तुत: साक्षरता का अर्थ है (स+अक्षर, अ+क्षर)(शाश्वतिक सत्य) सत्य से युक्त, अमृतस्वरूप होना, मोक्ष प्राप्त करना। इसीलिए तो ''साविद्या या विमुक्तये'' ''ज्ञानेन अमृतमश्नुते'' कहा है। इस विद्या से युक्त अन्य ज्ञान भी समीचीन होता है, अन्यथा ज्ञान मिथ्या/कुज्ञान/कुशिक्षा/अज्ञान हो जाता है। प्रत्येक शिक्षादि के अन्तर्निहित उद्देश्य निम्न प्रकार से होना चाहिए।

कला बहत्तर नरन की यामें दो सरदार।
एक जीव की जीविका दूजी जीव उद्धार।।

जीविका निर्वाह रूपी अपरा विद्या (लौकिक शिक्षा) तथा जीव उद्धार रूपी परा विद्या (अध्यात्म शिक्षा) से युक्त प्रत्येक मनुष्य को होना चाहिए। परंतु शास्त्रों से ज्ञात होता है तथा प्रायोगिक अनुभव में आता है कि जीविका, प्रसिद्धि, डिग्री आदि के लिए लौकिक शिक्षा का अर्जन जैसे करते हैं वैसे आध्यात्मिक विद्या का अर्जन नहीं करते हैं। जो आध्यात्मिक विद्या (धर्म ज्ञान) का भी अध्ययन करते हैं वे भी प्राय: जीविका, प्रसिद्धि, डिग्री आदि के साथ-साथ पंथवाद, मतवाद, परंपरा, संकीर्ण रुढिवादिता, रीति-रिवाज को संरक्षण, संवर्धन, प्रचार-प्रसार करने में उस विद्या का उपयोग या कहो तो यथार्थ से दुरुपयोग करते हैं। ऐसे महानतम अध्यात्मिक ज्ञान को

साधारणत: मनुष्य से लेकर धार्मिक कहलाने वाले व्यक्ति भी उपलब्ध क्यों नहीं कर पाते हैं उसका दिग्दर्शन निम्न प्रकार है -

सच्चे ज्ञानी जनों को दुषण लगाने से, उनसे दाह करने से, उनके ज्ञानाराधना में विघ्न डालने से, उनकी आसाधना करने से तथा चक्षु आदि इंद्रियों का घात करने से प्राणी मतिज्ञानावरण और श्रुत ज्ञानावरण कर्मों का बन्ध करने से बुद्धिहीन होते हैं। लाखों जन्मों में से कुछ ही जन्मों में शुभ परिणामवश मतिज्ञानवरण और श्रुतज्ञानवरण का क्षयोपशम होने से विवेकशील बुद्धि प्राप्त होती है। बुद्धि प्राप्त होने पर भी हिताहित के विचार में समर्थ धर्म का सुनना दुर्लभ है। क्योंकि रागद्वेष से रहित सच्चे ज्ञान के प्रकाशन से दुर्भेद्य मोहान्धाकार का उन्मूलन करने वाले और समस्त जीवों पर दया करने वाले मुनिगण दुर्लभ हैं। तथा तीव्र मिथ्यादर्शन के कारण गुणीजनों से द्वेष करने वाले या थोडा सा मिथ्याज्ञान प्राप्त करके अपने को बडा विद्वान् मानने वाले या अपने जाने हुए तत्त्व के परवश मनुष्यों के कारण या यतिगण के आलस्य से अथवा अपना और दूसरों का उद्धार करने में दक्ष न होने से यतिजन भी नहीं आते हैं। इससे भी धर्मश्रवण की दुर्लभता है। कदाचित् पाप का उपशम होने से यतिजन के पधारने पर भी विनयपूर्वक प्रश्न करने पर और प्रशस्त वचन बोलने वाले गुरु के सन्मुख होने पर धर्म सुनने को मिलता है। इसलिए धर्मश्रवण की दुर्लभता है। अथवा मुनिगण के वास स्थान पर जाकर भी सोता है स्वयं जो कुछ असार वचन बोलता है या मूर्खों के वचन सुनता है, विनय पूर्वक बर्ताव नहीं करता। इससे भी धर्म श्रवण दुर्लभ है।

धर्म सुनने पर भी श्रुत ज्ञानवरण का उदय होने से उसको समझना अति दुर्लभ है। तथा समझने पर भी उसमें मन लगना दुष्कर है क्योंकि पहिले कभी नहीं सुना था। तथा जीवादि तत्त्व भी सूक्ष्म है। श्रुतज्ञान का क्षयोपशम, मनका लगना, वक्ता का वचन सौष्ठव ये दुर्लभ होने से धर्मज्ञान दुर्लभ है, धर्म का ज्ञान होने पर भी जिन भगवान् के द्वारा कहा स्वर्ग और मोक्ष रुप फल को देने वाला, जीव के सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र, तप, दान, पूजा, भावरुप धर्म, ऐसा श्रद्धान दुर्लभ है क्योंकि जीव के दर्शन मोह का उदय रहता है। उपदेशलब्धि, काललब्धि और करणलब्धि भी सदा नहीं होती, कदाचित् ही होती है।

लद्धेसु वि तेसु पुणो बोधी जिणसासणम्मि ण हु सुलहा।
कुपधाकुलोय लोगों जं बलिया रागदोसा य॥ 1864 भ. आरा.

मनुष्यभव आदि के प्राप्त होने पर भी 'बोधि' अर्थात् जिन दीक्षा की ओर अभिमुख बुद्धि का होना सुलभ नहीं है क्योंकि जीवों के संयम को घातने वाला कर्म प्रबल होता है। तथा यह लोक मिथ्यामतों से भरा है। अत: बहुत लोग जिस धर्म का

आचरण करते हैं उसे ही प्रमाण मानकर जो कुछ मन में आता है उसे करतें हैं। राग द्वेष के बलवान होने से ज्ञान और श्रद्धान से युक्त भी मनुष्य सन्मार्ग पर नहीं चलता।

एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय तक के जीवों के मन नहीं होने के कारण उन में मन जन्य विशेष ज्ञान होना संभव नहीं। पञ्चेन्द्रिय में पशु-पक्षी के उत्कृष्ट मन नहीं होने के कारण भी उत्कृष्ट ज्ञान सम्भव नहीं है। नरक में अतिदु:ख, संक्लेश, वैरत्त्व, युद्ध, मार-काट के कारण भी उत्कृष्ट यथार्थ ज्ञान का अभाव है। भोगभूमि तथा स्वर्ग में भोग-विलासिता के कारण भी परम उत्कृष्ट यथार्थ ज्ञान नहीं होता है। विश्व में शेष बचे मनुष्य पर्याय में यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने की क्षमता होती है। तथापि मनुष्य में भी जो लब्धपर्याप्तक मनुष्य है उसमें तो यह योग्यता होती ही नहीं है। पर्याप्त मनुष्यों में भी सम्पूर्ण अंतरङ्ग-बहिरङ्ग अनुकूल कारणों के अभाव से भी बोधिलाभ संभव नहीं है।

देसकुलरूवमारोग्गमाउगं बुद्धिसवणगहणाणि।
लद्धे वि माणुसत्ते ण हुंति सुलभाणि जीवस्स॥ 1863

जीव के मनुष्य पर्याय प्राप्त करने पर भी देश, कुल, रूप, आरोग्य, आयु, बुद्धि, श्रवण, ग्रहण सुलभ नहीं हैं।

रागेण य दोसेण य जगे रमंतम्मि वीतरागम्मि ।
धम्माम्मि णिरासादम्मि रदी अदी दुल्लहा होइ॥ 1856

जो राग द्वेष पूर्वक संसार के भोगों में फँसे हैं, स्वाद रहित वीतराग धर्म में उनकी रुची होना अति दुर्लभ है।

अनादि कालिन काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या-द्वेश आदि कुसंस्कार के कारण मनुष्य की रुचि इन कामादि में अधिक होती है जिस की जिसमें रुचि होती है उसके प्रति आकर्षण तथा प्राप्त करने की इच्छा अधिक होती है इसलिए उसको प्राप्त करने के लिए वह प्रयत्न करता है। कामादि की पूर्ति भौतिक वस्तु धन-सम्पत्ति, मकान-दुकान, भोगोपभोग की सामग्री, स्त्री, पुरुष, लौकिक शिक्षा, प्रसिद्धि आदि होने से इसे प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। इसके साथ-साथ उपर्युक्त वस्तुयें देखने में, सुनने में तथा दिखाने में, सुनाने में आने के कारण इन्द्रिय गम्य है। इसे संसार के अधिकांश प्राणी चाहते हैं तथा उसका भोगोपभोग करते हैं। '**गतानुगतिक लोक: न लोक: परमार्थिक:**' अर्थात् लोक/प्राणी/मनुष्य गतानुगतिक/अन्धानुकरण करने वाला होने से उपर्युक्त कामादि भाव तथा उसके अर्जन एवं भोगोपभोग की शिक्षा, सामग्रियों को स्वीकार करता है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी होने से सामाजिक व्यवस्थाओं को भी स्वीकार करता है इससे विपरीत, अध्यात्म अमूर्तिक होने से देखने

में, सुनने में तथा दिखाने में, सुनाने में नहीं आता है। इसका मनन, चिन्तन, श्रवण, अनुभव आदि भी अनादि काल से सुलभ नहीं है। सांसारिक ज्ञान, सुख सामग्री आदि जिस प्रकार सुलभ है उसी प्रकार आध्यात्मिक ज्ञान, सुखादि सुलभ नहीं है।

वर्तमान आधुनिक, वैज्ञानिक, भौतिक, बाजारवादी, वैश्वीकरण के युग में आवश्यकता भी तदनुकूल है। इसलिए उसकी आपूर्ति के लिए भी तदनुकूल शिक्षा की आवश्यकता है। इसके बिना मनुष्य स्वयं को पिछडा हुआ मानता है तथा दूसरे भी इसी प्रकार मानते हैं। इसके कारण मनुष्य हीन भावना से ग्रसित हो जाता है। हीन भावना से उभरने के लिए भी युगानुकूल शिक्षादि ग्रहण करता है। इतना ही नहीं स्वयं को धार्मिक प्रदर्शित करने वाले गृहस्थ, पण्डित, साधु-संत तक जब आधुनिकता की अंधी दौड, सत्ता, संपत्ति, प्रसिद्धि, आडम्बर, डिग्री आदि को महत्त्व देते हैं तो अन्य सामान्य व्यक्ति को तो इसे सर्वेसर्वा, सर्वोपरी मान बैठना स्वभाविक ही है। इसलिए स्वयं को धार्मिक कहलाने वाले भी स्वयं तथा स्वयं के परिवार से देकर दूसरों को भी उपर्युक्त पढाई, विवाह, जीविका-निर्वाह के लिए चिन्ता, योजनायें करते हैं। दो या ढाई वर्ष के बच्चों को स्कूल, ट्यूशन भेजते हैं। बच्चों को दूसरे स्थान में यहाँ तक की विदेश में भी पढाने के लिए भेजते हैं, जाते हैं, धन के अभाव से ब्याज लेकर भी पढाते हैं, बडी बच्चियों को भी पढने के लिए दूर भेजते हैं। परंतु आध्यात्मिक ज्ञान कोई साधु-संत पास में निःशुल्क रूप से दान करते हैं तो भी उसे ग्रहण नहीं करते हैं।

अनेक देश-विदेशों के विद्वान्, मनीषी, वैज्ञानिक, शिक्षाविदों के साथ-साथ मेरा (आ. कनकनंदी) अनुभव है कि भारतीय संस्कृति, ज्ञान-विज्ञान, गणित, आयुर्वेद, योग-ध्यान, शाकाहार, भोजन, भाषा तथा जैन दर्शन के अनेकान्त सिद्धान्त, कर्म सिद्धान्त, कार्य कारण सिद्धान्त, तेइस वर्गणा, स्व-पर चतुष्टय, स्याद्वाद, अहिंसा, समता, अपरिग्रह, उत्तम क्षमादि दस धर्म, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र आदि अत्यन्त श्रेष्ठ, ज्येष्ठ, वैश्विक, सत्य-तथ्यात्मक, सर्व जीव हिताय, सर्व जीव सुखाय है। परंतु अत्यन्त खेद-दुःखद विषय यह है कि जीवन अनुपयोगी, पिष्ट पोषण, अनावश्यक या भ्रान्तिपूर्ण अथवा महान् भारतीय संस्कृति को तुच्छ सिद्ध करने वाले अनेक विषय निम्न कक्षाओं से लेकर उच्चतम कक्षा तक पढते हैं, पढाते हैं परंतु उपर्युक्त भारतीय सत्य-तथ्यात्मक, सर्व जीव हितकारी विषयों को न पढते हैं, न पढाते हैं। इतना ही नहीं धार्मिक संस्था, क्षेत्र, मन्दिर, समिति, सभा आदि के अध्यक्ष से लेकर सदस्य तक भी उपर्युक्त ज्ञान से प्रायः रहित होते हैं तथा अपने परिवार के सदस्यों को भी उस ज्ञान से दूर रखते हैं। क्योंकि प्रायः वे धर्म के परिवर्तन में धन के बल पर

अध्यक्ष आदि बनते हैं अतः वे चाहते हैं कि हमारे परिवार के सदस्य भी हमारे जैसे शिक्षा, व्यापारादि से धन कमाकर आगे भी अध्यक्षादि बनते रहे तथा धन-मान-सम्मानादि प्राप्त करते रहें। वे भले राज-नेता के जैसे धर्म तथा धर्म ज्ञान-शिक्षादि के लिए भाषणबाजी करते रहेंगे परंतु प्रायोगिक रूप से विपरीत आचरण करते हैं।

विदेश के मनीषी, शोधार्थी, वैज्ञानिक आदि जब भारत के ग्रंथों से, संस्कृति से, परम्परा से, रीति-रिवाजों से कुछ शोध-बोध, अविष्कार करते हैं तब भारत के लोग मानते हैं, अध्ययन-अध्यापन करते हैं अन्यथा भारतीय लोग उसे हेय दृष्टि से देखते हैं। इन सब कारणों से भारत में नवीन शोध-बोध, अविष्कार, विकास कम हो पाता है। जब भारत के लोग पाश्चात्य आदि देश में जाते हैं तब वहाँ के शोधपूर्ण-सत्याग्राही-पुरुषार्थ के कारण विकास करते हैं। भारतीयों को भी उपर्युक्त अच्छे गुणों को स्वीकार करके आगे बढकर अपनी आध्यात्मिक संस्कृति को अपना कर सर्वोदय करना चाहिए। ऐसा कार्य करने वाले महान् है। यथा -

ते धण्णा जे जिणवरदिट्ठे धम्मम्मि होंति संबुद्धा।
जे य पवण्णा धम्मं भावेण उवट्ठिदमदीया ॥ 187 भ. आ.

जो जिन भगवान् के द्वारा उपदिष्ट धर्म में प्रबुद्ध होते हैं वे धन्य हैं। तथा जो दीक्षाभिमुख बुद्धि को प्राप्त करके भावपूर्वक धर्म को अपनाते हैं वे तो महाधन्य हैं।

सुखकारी एवं दुःखहारी ज्ञान प्राप्ति के उपाय :-

मतिज्ञान के माध्यम से मतिज्ञान के अनन्तर जो अनुभवात्मक हिताहित विवेकात्मक ज्ञान होता है वह श्रुत ज्ञान है।इस ज्ञान से जीव विश्व के समस्त चेतन-अचेतनात्मक समस्त द्रव्यों को उसकी कुछ पर्यायों से सहित जानता है जिससे उसे स्व- आत्म तत्व तथा पर तत्व का भी परिज्ञान होता है।इससे उसे ज्ञेय (जानने योग्य) हेय (त्यजनीय) उपादेय (ग्रहनीय, श्रेष्ठ) का भी ज्ञान होता है जिससे वह ज्ञेय को जानकर हेय को त्याग कर ग्रहणीय को स्वीकार करता है। यह ही सुखी होने का सर्वोत्तम उपाय है। एतदर्थ कुछ उपाय करणीय है, यथा-

1) सत्य, विषय, शास्त्र, प्रवचनादि को जानने की सुनने की अत्यन्त रूचि हो। रूचि पूर्वक एकाग्रता से सुनना

2) रूचि से ग्रहणीय विषयों में शंका होने पर जिज्ञासा पूर्ण सनम्र प्रश्न करना।

3) ज्ञात विषयों को बार- बार मनन-चिन्तन- स्मरण करना।

4) ज्ञात विषयों को विभिन्न दृष्टिकोण से जानना तथा समन्वय करना और तुलनात्मक अध्ययन करना ।

5) अध्ययन एवं चर्चा सत्य ग्राही, जिज्ञासु व्यक्तियों के समूह में करना जिससे विषयों का अधिगम निष्पक्षता से गहराई से होगा, शंका समाधान में सहयोग मिलेगा। ऐसे व्यक्तियों के अभाव से स्वयं एकान्त, प्रशान्त वातावरण में अध्ययन करना किन्तु संकीर्ण, हठग्राही, मत-पंथ-परम्परा वादियों के साथ स्वाध्याय, चर्चा नहीं करना क्योंकि ऐसे व्यक्ति उदार, सत्याग्राही, सहज-सरल, शान्त नहीं हों सकते हैं जिससे ज्ञान, चर्चा, स्वभाव, व्यवहार भी तदनुकूल होगा।

6) एकान्त में व्याक्तिगत अध्ययन के समय में भी जो विषय महत्वपूर्ण है उसके नीचे रेखा कोई रंगीन स्याही या पेनसिल आदि से खींचना जिससे वह विषय स्मरण में भी रहता है, देखने में अच्छा लगता है, आवश्यकता पडने पर शीघ्रता से विषय मिल भी जाता है। शंका के विषयों को स्पष्ट करने के लिए समाधानार्थे प्रश्न वाचक चिन्ह लगाना। योग्य व्यक्तियों से प्रत्यक्ष या लिखित रूप से समाधान करना। ऐसे व्यक्तियों से समाधान नहीं होने पर भी विभिन्न ग्रंथों के गहन अध्ययन, मनन, चिंतन से धीरे-धीरे शंका-समाधान होता जाता है।

7) जो विषय ग्रंथों से अध्ययन किया जाता है या प्रवचनादि से श्रवण किया जाता है उसे स्व-भाषा, स्व-पद्धति से नोटबुक में लिखना। आवश्यकतानुसार उस लिखित विषयों का भी अध्ययन, संशोधन, संवर्द्धन करना।

8) अध्ययन में रुचि को बढाने के लिए पहले स्व-रुचिकर सरल विषयों (कथा, कहानी, उदाहरण, प्रेरक प्रसंग, संस्मरण, महापुरुषों की जीवनी, पुराण, चारित्र) का अध्ययन करना, उसे दूसरें योग्य व्यक्तियों को भी सुनाना।

9) दूसरों को भी ज्ञान दान देना। यथा - शास्त्र दान करना, शास्त्र प्रकाशन करना, दूसरों को निःशुल्क अध्यापन कराना, कक्षा-शिविर-संगोष्ठी आदि का आयोजन करना, प्रवचन करना, ग्रन्थालय की स्थापना करना, अनुवाद-सम्पादन करना, लेख-साहित्य लिखना। देश-विदेश में स्कूल-कॉलेज में ज्ञान का प्रचार-प्रसार करना।

10) रुचि, योग्यता के अनुसार विभिन्न धर्म, दर्शन, विज्ञान, गणित, मनोविज्ञान, तर्क, आयुर्वेद, कला, साहित्य, पुराण आदि का निष्पक्ष, सत्यग्राही अध्ययन, समन्वय करना।

11) आधुनिक विज्ञान भले अपूर्ण तथा विशेषतः भौतिक है तथापि उस की पद्धति एवं दृष्टि सत्यग्राही, उदार, प्रगतिशील, परिवर्तनशील, सापेक्षता से युक्त, भूल-सुधार वादी होने से विज्ञान की विभिन्न शाखाओं का अध्ययन, समन्वय अपेक्षणीय है। इससे दृष्टिकोण, ज्ञान, पद्धति आदि सूक्ष्म, सत्य-तथ्यात्मक, उदार, गाणितिय, समसामयिक, वैज्ञानिक बनती है।

12) आध्यात्मिक रहस्य को मानना-जानना-आत्मसात् करना ही मुख्य ध्येय है। इसके लिए सरल माध्यम रूपी भाषा चुनना चाहिए। यदि भाषा ही दुरुह हो तो अति गहन आध्यात्मिक विषय का परिज्ञान कैसे होगा ? साध्य स्वरूप सत्य-तथ्य, ध्येय, उपादेय, ग्रहणीय को महत्व देना चाहिए न कि केवल साधन स्वरूप भाषा को।

13) सत्य-तथ्य पूर्ण अमूर्तिक आध्यात्मिक ज्ञान अभूतपूर्व, अभावित, अश्रुत, सूक्ष्म गहन, गंभीर, विस्तृत, अनन्त होने के कारण इसे अधिकांश साधारण व्यक्ति, पढे-लिखे व्यक्ति, पंडित, प्रोफेसर, वैज्ञानिक, लेखक, साहित्यकार, यहाँ तक कि रुढिवादी, पंथवादी धार्मिक जन से लेकर साधु-संत, आचार्य तक न जानते हैं, न मानते हैं, न अनुभव करते हैं न प्रचार-प्रसार करते हैं। इसलिए आध्यात्मिक ज्ञान दुरुह, दुर्लभ है, इसलिए यह ज्ञान-अनुभव जिसे है वह विश्व में श्रेष्ठ है, ज्येष्ठ है, पूजनीय है, आदर्श है। उस महान् विभूति को प्रायः संसार समझ नहीं पाता है, बहुमान-आदर नहीं दे पाता है, सदुपयोग नहीं कर पाता है। तथापि ऐसे महान् व्यक्ति स्वयं को छोटा नहीं माने या नहीं मानते हैं। वह मानते हैं कि दूसरों में योग्यता नहीं होने के कारण मुझे समझ नहीं पाते हैं। ये मेरी कमियाँ नहीं है परंतु मेरी महानता को समझने की शक्ति दूसरों में नहीं होने से दूसरों की कमियाँ हैं। जैसा कि सूर्य को उल्लू नहीं देख पाता है तो इसमें सूर्य का दोष नहीं है अपितु उल्लू की अयोग्यता है। इसलिए ऐसे ज्ञानी को दूसरों से प्रभावित नहीं होना चाहिए और पंथ-मत, रुढि, लोकरञ्जन, भीड (ख्याति, पूजा, प्रसिद्धि) के अनुसार भी स्वयं को परिवर्तित नहीं करना चाहिए।

ज्ञान प्राप्ति के विभिन्न उपाय -

महान् ज्ञान को प्राप्त करने के योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से युक्त शिष्य एवं गुरु की आवश्यकता अनिवार्य है। क्योंकि शिष्य एवं गुरु के अन्तरङ्ग तथा बहिरङ्ग सम्पूर्ण कारणों के सम्यक् समवाय से ही ऐसा महान् बोधि लाभ सम्भव है। यथा -

सर्व दुःख नाशकारी शिक्षा

दुःखाद्विभेषि नितरामभिवाञ्छसि सुखमतोऽहमप्यात्मन्।
दुःखापहारि सुखकरमनुशास्मि तवानुमतमेव ॥ 2 आत्मानु.

हे आत्मन् ! तू दुःख से अत्यन्त डरता है और सुख की इच्छा करता है, इसलिए मैं भी तेरे लिए अभीष्ट उसी तत्त्व का प्रतिपादन करता हूँ जो कि तेरे दुःख को नष्ट करके सुख को करने वाला है।

यद्यपि कदाचिदस्मिन् विपाकमधुरं तदात्वकटु किञ्चित्।
त्वं तस्मान्मा भैषीर्यथातुरो भेषजादुग्रात् ॥ 3

यद्यपि इस (आत्मानुशासन) में प्रतिपादित किया जाने वाला कुछ सम्यग्दर्शनादि का उपदेश कदाचित् सुनने में अथवा आचरण के समय में थोडा सा कडुआ (दु:खदायक) प्रतीत हो सकता है, तो भी वह परिणाम में मधुर (हितकर) ही होगा। इसलिए हे आत्मन् ! जिस प्रकार रोगी तीक्ष्ण (कडुवी) औषधि से नहीं डरता है उसी प्रकार तू भी उससे डरना नहीं।

जिस प्रकार ज्वर आदि से पीडित बुद्धिमान् मनुष्य उसको नष्ट करने के लिए चिरायता आदि कडुवी भी औषधि को प्रसन्नता पूर्वक ग्रहण करता है उसी प्रकार संसार के दु:ख से पीडित भव्य जीवों को इस उपदेश को सुनकर प्रसन्नता पूर्वक तदनुसार आचरण करना चाहिए। कारण यह कि यद्यपि आचरण के समय वह कुछ कष्टकारक अवश्य दिखेगा तो भी उसका फल मधुर (मोक्षप्राप्ति) होगा।

हितोपदेशी दुर्लभ :-

जना घनाश्च वाचाला: सुलभा: स्युर्वुयोत्थिता:।
दुर्लभा ह्यन्तरार्द्रास्ते जगदभ्युज्जिहीर्षव: ॥ 4

जिनका उत्थान (उत्पति और प्रयत्न) व्यर्थ है ऐसे वाचाल मनुष्य और मेघ दोनों ही सरलता से प्राप्त होते हैं। किन्तु जो भीतर से आर्द्र (दयालु और जल से पूर्ण) होकर जगत् का उद्धार करना चाहते हैं ऐसे वे मनुष्य और मेघ दोनों ही दुर्लभ हैं।

विशेषार्थ- जो मेघ गरजते तो हैं, किन्तु जलहीन होने से बरसते नहीं हैं, वे सरलता से पाये जाते हैं। परन्तु जो जल से परिपूर्ण होकर वर्षा करने के उन्मुख हैं, वे दुर्लभ ही होते है। ठीक इसी प्रकार से जो उपदेशक अर्थहीन अथवा अनर्थकारी उपदेश करते हैं वे तो अधिक मात्रा में प्राप्त होते हैं, किन्तु जो स्वयं मोक्षमार्ग में प्रवृत होकर दयार्द्रचित्त होते हुए अन्य उन्मार्गगामी प्राणियों को उससे उद्धार करने वाले सदुपदेश को करते हैं वे कठिनता से ही प्राप्त होतें हैं। ऐसे ही उपदेशक का प्रयत्न सफल होता है।

हितोपदेशी का स्वरूप -

प्राज्ञ: प्राप्तसमस्तशास्त्रहृदय: प्रव्यक्तलोकस्थिति:।
प्रास्ताश: प्रतिभापर: प्रशमवान् प्रागेव दृष्टोत्तर:॥
प्राय: प्रश्नसह: प्रभु: परमनोहारी परानिन्दया ।
ब्रुयाद्धर्मकथां गणी गुणनिधि: प्रस्पष्टमिष्टाक्षर: ॥ 5

जो त्रिकालवर्ती पदार्थों को विषय करने वाली प्रज्ञा से सहित है, समस्त शास्त्रों के रहस्य को जान चुका है, लोक व्यवहार से परिचित है, अर्थलाभ और पूजा-प्रतिष्ठा आदि की इच्छा से रहित है, नवीन-नवीन कल्पना की शक्तिरूप अथवा शीघ्र उत्तर देने की

योग्यतारूप उत्कृष्ट प्रतिभा से सम्पन्न है, शान्त है, प्रश्न करने के पूर्व में ही वैसे प्रश्न के उपस्थित होने की सम्भावना से उसके उत्तर को देख चुका है, प्राय: अनेक प्रकार के प्रश्नों के उपस्थित होने पर उनको सहन करने वाला है अर्थात् न तो उनसे घबराता है और न उत्तेजित ही होता है, श्रोताओं के ऊपर प्रभाव डालने वाला है, उनके (श्रोताओं के) मन को आकर्षित करने वाला अथवा उनके मनोगत भाव को जानने वाला है, तथा उत्तमोत्तम अनेक गुणों का स्थानभूत है; ऐसा संघ का स्वामी आचार्य दूसरों की निन्दा न करके स्पष्ट एवं मधुर शब्दों में धर्मोपदेश देने का अधिकारी होता है।

सच्चे गुरू -

श्रुतमविकलं शुद्धा: वृत्ति: परप्रतिबोधने परिणतिरूरूद्योगोमार्ग प्रवर्तनसद्विधौ।
बुधनुतिरनुत्सेको लोकज्ञता मृदुताऽस्पृहा यतिपतिगुणा यस्मिन्नन्ये च सोऽस्तु गुरु: सताम्॥

जिसके परिपूर्ण श्रुत है अर्थात् जो समस्त सिद्धान्त का जानकार है, जिसका चारित्र अथवा मन, वचन व काय की प्रवृति पवित्र है; जो दूसरों को प्रतिबोधित करने में प्रवीण है, मोक्षमार्ग के प्रचाररूप समीचीन कार्य में अतिशय प्रयत्नशील है, जिसकी अन्य विद्वान् स्तुति करते हैं, तथा जो स्वयं भी विशिष्ट विद्वानों की प्रशंसा एवं उन्हें नमस्कारादि करता है, जो अभिमान से रहित है, लोक और लोकमर्यादा का जानकार है, सरल परिणामी है, इस लोक सम्बन्धी इच्छाओं से रहित है, तथा जिसमें और भी आचार्य पद के योग्य गुण विद्यमान है; वही हेयोपादेय-विवेकज्ञान के अभिलाषी शिष्यों का गुरू हो सकता है।

सच्चे शिष्य -

भव्य: किं कुशलं ममेति विमृशन् दु:खाद् भृशं भीतवान्,
सौख्यैषीश्रवणादिबुद्धिविभव: श्रुत्वा विचार्य स्फुटम्।
धर्मं शर्मकरं दयागुणमयं युक्त्यागमाभ्यां स्थितं,
गृह्णन् धर्मकथां श्रुतावधिकृत: शास्यो निरस्ताग्रह: ॥ 7

जो भव्य है; मेरे लिये हितकारक मार्ग कौन- सा है, इसका विचार करने वाला है; दुख से अत्यन्त डरा हुआ है, यथार्थ सुख का अभिलाषी है, श्रवण आदि रूप बुद्धि वैभव से सम्पन्न है, तथा उपदेश को सुनकर और उसके विषय में स्पष्टता से विचार करके जो युक्ति व आगम से सिद्ध है ऐसे सुखकारक दयामय धर्म को ग्रहण करने वाला है; ऐसा दुराग्रह से रहित शिष्य धर्मकथा के सुनने में अधिकारी माना गया है।

यहाँ धर्मोपदेश के सुनने का अधिकारी कौन है, इस प्रकार श्रोता के गुणों का विचार करते हुए सबसे पहले यह बतलाया है कि वह भव्य होना चाहिए। जो सम्यग्दर्शन,

सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को प्राप्त करके भविष्य में अनन्त चतुष्टय स्वरुप से परिणत होने वाला है वह भव्य कहलाता है। यदि श्रोता इस प्रकार का भव्य नहीं है तो उसे उपदेश देना व्यर्थ ही होगा। कारण कि जिस प्रकार पानी के सींचने से ही मिट्टी गीलेपन को प्राप्त हो सकती है उस प्रकार पत्थर नहीं हो सकता, अथवा जिस प्रकार नवीन घट के ऊपर जल बिन्दुओं के डालने पर वह उन्हें आत्मसात् कर लेता है उस प्रकार घी आदि से चिक्कणता को प्राप्त हुआ घट उन्हें आत्मसात् नहीं कर सकता है - वे इधर उधर बिखर कर नीचे गिर जाती हैं।ठीक यही स्थिति उस श्रोता की भी है - जिस श्रोता का हृदय सरल है वह सदुपदेश को ग्रहण करके तदनुसार प्रवृत्ति करने में प्रयत्नशील होता है, किंतु जिसका हृदय कठोर है उसके ऊपर सदुपदेश का कुछ भी प्रभाव नहीं पडता। अतएव सबसे पहले उसका भव्य होना आवश्यक है। दूसरी विशेषता उसकी यह निर्दिष्ट की गई है कि उसे हिताहित का विवेक होना चाहिए। कारण कि मेरा आत्मकल्याण किस प्रकार से हो सकता है, यह विचार यदि श्रोता के रहता है तब तो वह सदुपदेश को सुनकर तदनुसार कल्याण मार्ग में चलने के लिए उद्यत हो सकता है। परंतु यदि उसे आत्महित की चिंता अथवा हित और अहित का विवेक नहीं है तो मोक्ष मार्ग में प्रवृत्त नहीं हो सकेगा। किंतु जब और जिस प्रकार का अनुकूल या प्रतिकूल उपदेश उसे प्राप्त होगा तदनुसार वह अस्थिरता से आचरण करता रहेगा। इस प्रकार से वह दुःखी ही बना रहेगा। इसलिए उसमें आत्महित का विचार और उसके परीक्षण की योग्यता अवश्य होना चाहिए। इसी प्रकार उसे दुःख का भय और सुख की अभिलाषा भी होनी चाहिए, अन्यथा यदि उसे दुःख से किसी प्रकार का भय नहीं है या सुख की अभिलाषा नहीं है तो फिर भला वह दुःख को दूर करने वाले सुख के मार्ग में प्रवृत्त ही क्यों होगा ? नहीं होगा। अतएव उसे दुःख से भयभीत और सुखाभिलाषी भी अवश्य होना चाहिए। इसके अतिरिक्त उसमें निम्न प्रकार बुद्धि का वैभव या श्रोता के आठ गुण भी होने चाहिए-

शुश्रुषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा ।
स्मृत्यूहापोहनिर्णीतिः श्रोतुरष्टौ गुणान् विदुः ।।

सबसे पहले उसे उपदेश सुनने की उत्कंठा (शुश्रुषा) होनी चाहिए, अन्यथा तदनुसार आचरण करना तो दूर रहा किंतु वह उसे रुचि पूर्वक सुनेगा भी नहीं। अथवा शुश्रुषा से अभिप्राय गुरु की सेवा का भी हो सकता है, क्योंकि वह भी ज्ञान प्राप्ति का साधन है। इसके अनन्तर श्रवण (सुनना), सुने हुए अर्थ को ग्रहण करना, ग्रहण किये हुए अर्थ को हृदय में धारण करना, उसका स्मरण रखना, उसके योग्यायोग्य का युक्ति पूर्वक विचार करना, इस विचार से जो योग्य प्रमाणित हो उसे ग्रहण करके अयोग्य अर्थ को

छोडना, तथा योग्य तत्त्व के विषय में दृढता रहना, ये श्रोता के आठ गुण हैं जो उसमें होने चाहिए। उपर्युक्त गुणों के अतिरिक्त श्रोता में हठाग्रह का अभाव भी होना चाहिए, क्योंकि वह यदि हठाग्रही है तो वह यथावत् वस्तु स्वरूप का विचार नहीं कर सकेगा। कहा भी है-

आग्रही वत् निनीषति युक्तिं तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा।
पक्षपातरहितस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र मतिरेति निवेशम्।।

अर्थात् दुराग्रही मनुष्य ने जो पक्ष निश्चित् कर रखा है वह युक्ति को उसी ओर ले जाना चाहता है। किंतु जो आग्रह से रहित होकर निष्पक्ष दृष्टि से विचार करना चाहता है वह युक्ति का अनुसरण करके उसके ऊपर विचार करता और तदनुसार वस्तु स्वरूप का निश्चय करता है। इस प्रकार जिस श्रोता में ये गुण विद्यमान होंगे वह सुरुचिपूर्वक धर्मोपदेश को सुन करके तदनुसार आत्महित के मार्ग में अवश्य प्रवृत्त होगा।

सुखार्थी का कर्तव्य :-

पापाद् दुःखं धर्मात्सुखमिति सर्वजनसुखप्रसिद्धमिदम्।
तस्माद्विहाय पापं चरतु सुखार्थी सदा धर्मम् ।। 8

पाप से दुःख और धर्म से सुख होता है यह बात सब जनों में भले प्रकार प्रसिद्ध है - इसे सब ही जानते हैं। इसलिए जो भव्य प्राणी सुख की अभिलाषा करता है उसे पाप को छोडकर निरन्तर धर्म का आचरण करना चाहिए।

सर्व प्रेप्सति सत्सुखाप्तिमचिरात् सा सर्वकर्मक्षयात्
सद्वृत्तात् स च तच्च बोधानियतं सोऽप्यागमात् स श्रुतेः।
सा चाप्तात् स च सर्वदोषरहितो रागादयस्तेऽप्यतः
तं युक्त्या सुविचार्य सर्वसुखदं सन्तः श्रयन्तु श्रिये ।। 9

सब प्राणी शीघ्र ही यथार्थ सुख को प्राप्त करने की इच्छा करते हैं, वह सुख की प्राप्ति समस्त कर्मों का क्षय हो जाने पर होती है, वह कर्मों का क्षय भी सम्यक्चारित्र के निमित्त से होता है, वह सम्यक्चारित्र भी सम्यग्ज्ञान के अधीन है, वह सम्यग्ज्ञान भी आगम से प्राप्त होता है, वह आगम भी द्वादशाङ्ग रूप श्रुत के सुनने से होता है, वह द्वादशाङ्ग श्रुत भी आप्त से आविर्भूत होता है, आप्त भी वही हो सकता है जो समस्त दोषों से रहित है, तथा वे दोष भी राग-द्वेष रूप है। इसलिए सुख के मूल कारण भूत आप्त का (देव का) युक्ति (परीक्षा) पूर्वक विचार करके सज्जन मनुष्य बाह्य एवं अभ्यन्तर लक्ष्मी को प्राप्त करने के लिए सम्पूर्ण सुख देने वाले उसी आप्त का आश्रय करें।

यहाँ यह बतलाया है कि क्षुधा-तृषा आदि अठारह दोषों से रहित आप्त की

दिव्य ध्वनि को सुनकर गणधरों के द्वारा द्वादशाङ्ग श्रुत की रचना की जाती है। उसको सुनकर आरातिय आचार्य आगम का प्रणयन करते हैं जिससे कि अभ्यास से साधारण प्राणियों को हिताहित का बोध प्राप्त होता है। इस प्रकार जब प्राणी को हिताहित विवेक के साथ वस्तुस्थिति का ज्ञान हो जाता है तब उसका सम्यक्चारित्र (तप-संयमादि) की ओर झुकाव होता है और इससे वह सम्पूर्ण कर्मों को आत्मा से पृथक् करके शीघ्र ही अविनश्वर निराकुल सुख को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार परम्परा से उसके मनोरथ की पूर्ति का मूल कारण रागादि दोषों से रहित सर्वदर्शी आप्त ही ठहरता है। अतएव सुखाभिलाषी प्राणियों को ऐसे ही आप्त (प्रामाणिक वक्ता) का स्मरण, चिंतन एवं उपासना आदि करनी चाहिए ।

सर्वज्ञ, प्रामाणिक, आप्त से सुनने मात्र से शास्त्रों की पढाई (रीडिंग) मात्र से या विभिन्न इंद्रियों से उसके योग्य विषयों को ग्रहण मात्र से ज्ञान की परिपक्वता की पूर्णता नहीं हो जाती है जैसा कि भोजन निगलकर पेट में पहुँचाने मात्र से उस भोजन से कैलोरी/रस/ऊर्जा प्राप्त नहीं हो जाती है; जब तक की भोजन पचता नहीं है वैसा ही जानकारियाँ/पढाई, सुनना आदि ज्ञान रूप से तब तक परिणमन नहीं कर लेता है; जब तक उसे मनन, चिंतन, अनुप्रेक्षा, परीक्षण, निरीक्षण, ध्यानादि के माध्यम से आत्मसात् करके, अनुभव करके, प्रायोगिक नहीं किया जाता है। सामान्य जानकारियाँ आदि को स्मृति, अनुभव ज्ञान आदि में परिणमन के उपायों का वर्णन निम्नोक्त है -

मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्॥ 13 पृ. 67 (स्व. के सूत्र)

मति, स्मृति संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध इत्यादि अन्य पदार्थ नहीं हैं अर्थात् मतिज्ञान के ही नामान्तर हैं। मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम रूप अन्तरंग निमित्त से उत्पन्न हुए उपयोग को विषय करने के कारण मतिज्ञान एक है तथापि कुछ विशेष कारणों से उसमें उपरोक्त भेद हो जाते हैं ।

1- **मति -''मननं मतिः''** जो मनन किया जाता है उसे मति कहते हैं। मन और इन्द्रिय से वर्तमान काल के पदार्थों का ज्ञान होना मति है।

2- **स्मृति-''स्मरणं स्मृति''** स्मरण करना स्मृति है। पहले जाने हुए पदार्थों का वर्तमान में स्मरण आने को स्मृति कहते हैं।

3- **संज्ञा-''सज्ञानं संज्ञा''** वर्तमान में किसी वस्तु को देखकर यह वही है इस प्रकार स्मरण और प्रत्यक्ष के जोड रूप ज्ञान को संज्ञा या प्रत्यभिज्ञान कहते हैं।

4- **चिन्ता** -किन्हीं दो पदार्थों के कार्य -कारण आदि सम्बन्ध के ज्ञान को चिन्ता कहते हैं। इसको तर्क भी कहते हैं। जैसे-अग्नि के बिना धूम नहीं होता है, आत्मा के

बिना शरीर व्यापार, वचन व्यापार नहीं हो सकते हैं, पुद्गल के बिना स्पर्श, रस, गंध, वर्ण नहीं हो सकते हैं। इस प्रकार कार्य कारण संबंध का विचार करना चिंता है। सक्षिप्तत: व्याप्ति के ज्ञान को चिंता कहते हैं।

5- **अभिनिबोध-** एक प्रत्यक्ष पदार्थ को देखकर उससे संबंध रखने वाले अप्रत्यक्ष का बोध-ज्ञान होना अभिनिबोध (अनुमान) है। जैसे - पर्वत पर प्रत्यक्ष धुम्र को देखकर उससे संबंध रखने वाली अप्रत्यक्ष अग्नि का ज्ञान होना। ''इति'' शब्द से प्रतिभा, बुद्धि, मेधा आदि को ग्रहण करना चाहिए। दिन या रात्रि में कारण के बिना ही जो स्वत: प्रतिभास हो जाता है वह प्रतिभा है। जैसे प्रात: मुझे इष्ट वस्तु की प्राप्ति होगी या कल मेरा कोई इष्ट संबंधी आयेगा आदि।

अर्थ ग्रहण करने की शक्ति को **''बुद्धि''** कहते हैं। पाठ ग्रहण करने की शक्ति का नाम **''मेधा''** है। कहा भी है आगमाश्रित ज्ञान **मति** है। **बुद्धि** तत्कालीन पदार्थ का साक्षात्कार करती है। **प्रज्ञा** अतीत को तथा **मेधा** त्रिकालवर्ती पदार्थों का परिज्ञान करती है। नवीन-नवीन उन्मेषशालीनी **प्रतिभा** है।

स्मरण रखने की पद्धति -

किसी भी विषय को पढकर, देखकर, सुनकर अथवा अन्य किसी माध्यम से ग्रहण करके उसे स्मरण रखने का क्रम निम्न प्रकार है-

अवग्रहेहावायधारणाः। 15 (स्वतंत्रता के सूत्र)

अवग्रह (Avagraha or perception), ईहा (Conception), आवाय (Judgement), धारणा (Retention)

अवग्रह, ईहा, आवाय, और धारणा ये मति ज्ञान के चार भेद हैं। इस सूत्र में ज्ञान प्राप्ति के मनोवैज्ञानिक प्रणाली का वर्णन किया गया है। किसी भी विषय के धारणा रूपी ज्ञान के लिए किन-किन मनोवैज्ञानिक प्रणालियों से गुजरना पडता है उसका वर्णन किया गया है। विद्यार्थियों को इस सूत्र में प्रतिपादित मनोवैज्ञानिक प्रणाली से अध्ययन करना चाहिए जिससे उनकी धारणा शक्ति (स्मरण शक्ति) अधिक हो सकती है।

विषय और विषयी के संबंध के बाद होने वाले प्रथम ग्रहण को अवग्रह कहते हैं। विषय और विषयी सन्निपात (संबंध) होने पर दर्शन होता है। उसके पश्चात् जो पदार्थ का ग्रहण होता है वह 'अवग्रह' कहलाता है। जैसे चक्षु इन्द्रिय के द्वारा 'यह शुक्ल रूप है' ऐसा ग्रहण करना अवग्रह है। अवग्रह के द्वारा ग्रहण किये गये पदार्थों में उसके विषय में विशेष जानने की इच्छा ईहा कहलाती है। जैसे, 'जो शुक्ल रूप देखा

क्या वह वकपंक्ति है'? इस प्रकार जानने की इच्छा को 'ईहा' कहते हैं। विशेष के निर्णय द्वारा जो यथार्थ ज्ञान होता है उसे 'आवाय' कहते हैं। जैसे- उत्पतन, निपतन और पंखविक्षेप आदि के द्वारा 'यह वकपंक्ति ही है ध्वजा नहीं है' ऐसा निश्चय होना आवाय है। जानी हुई वस्तु का जिस कारण कालान्तर में विस्मरण नहीं होता उसे 'धारणा' कहते हैं। जैसे - यह वही वकपंक्ति है जिसे प्रात:काल मैंने देखा था, ऐसा जानना धारणा है। सूत्र में इन अवग्रहादिक का उपन्यास क्रम इनके उत्पत्ति क्रम की अपेक्षा किया है। तात्पर्य यह है कि, जिस क्रम से ये ज्ञान उत्पन्न होते हैं उसी क्रम से इनका सूत्र में निर्देश किया है। गोम्मटसार जीवकांड में कहा भी गया है -

अहिमुहणियमियबोहणमाभिणिबोहयमणिंदिइंदियजं।
अवगहईहावायाधारणगा होंतिपत्तेयं ।।(306)(गो.जीव.)

इंद्रिय और अनिंद्रिय (मन) की सहायता से अभिमुख और नियमित पदार्थ को 'अभिमुख' कहते हैं । जैसे -चक्षु का रूप नियत है इस ही तरह जिस -जिस इंद्रिय का जो - जो विषय निश्चित है उसको नियमित कहते हैं। इस तरह के पदार्थोंका मन अथवा स्पर्शन आदिक पाँचों इंद्रियों की सहायता से जो ज्ञान होता है उसको ' आभिनिबोधक मतिज्ञान' कहते हैं । इस प्रकार मन और इंद्रिय रूप सहकारी निमित्त भेद की अपेक्षा से मतिज्ञान के छ:ह भेद हो जाते हैं । इसमें भी प्रत्येक के अवग्रह, ईहा, आवाय, धारणा ये चार-चार भेद हैं । प्रत्येक के चार-चार भेद होते हैं। इसलिए छह को चार से गुणा करने पर मतिज्ञान के 24 भेद हो जाते हैं ।

विसयाणं विसइणं, संजोगाणंतरं हवे णियमा।
अवगहणाणं गहिदे, विसेसकंखा हवे ईहा ।। (308)

पदार्थ और इंद्रियों का योग्य क्षेत्र में अवस्थान रूप संबंध होने पर सामान्य अवलोकन या निर्विकल्प ग्रहण रूप दर्शन होता है। और इसके अनंतर विशेष आकार आदि को ग्रहण करने वाला अवग्रह ज्ञान होता है। इसके अनंतर जिस पदार्थ को अवग्रह ने ग्रहण किया है उस ही के किसी विशेष अंश को ग्रहण करने वाला ईहा ज्ञान होता है।

ईहणकरणेण जदा, सुणिण्णिओ होदि सो अवाओ दु।
कालंतरे वि णिण्णिदवत्थुसुमरणस्स कारणं तुरियं।। (309)

ईहा ज्ञान के अनंतर वस्तु के विशेष चिन्हों को देखकर जो इसका विशेष निर्णय होता है उसको 'आवाय' कहते हैं। जैसे भाषा, वेश विन्यास आदि को देखकर ''यह दाक्षिणात्य ही है'' इस तरह के निश्चय को आवाय कहते हैं । जिसके द्वारा निर्णीत वस्तु का कलान्तर में भी विस्मरण न हो उसको धारणा ज्ञान कहते हैं।

आचरण/प्रयोग के बिना लौकिक या धार्मिक शिक्षा अहितकारी

''निरक्षरी जो साक्षरी से अधिक संस्कारवान्, सक्षम, वैज्ञानिक''

पंडित, ज्ञानी, विद्वान्, शिक्षित, धर्मात्मा, सुसंस्कृत व्यक्ति की परिभाषा निम्नोक्त है -

मातृवत् पर दारेषु परद्रव्येषु लोष्टवत् ।
आत्मवत् सर्व जीवेषु य: पश्यति स: पंडित: ।।

सम्पूर्ण पर महिलाओं को माता के समान, दूसरों की धन-सम्पत्ति को मिट्टी के समान, सम्पूर्ण जीवों को स्व-आत्मा के समान मानकर सबसे जो सद्व्यवहार करता है वह पंडित है।

ज्ञान समान न आन जग में सुख को कारण। यह जन्म-जरा-मृत्यु- रोग निवारण।।

उपर्युक्त वर्णन से यह सिद्ध होता है कि ज्ञान (शिक्षा, विद्या) समस्त सुखों का कारण है। तथा ज्ञानी का भाव एवं व्यवहार स्व-पर सुखकारी होता है परंतु **''आचारेण विहीनेन साक्षरा एव राक्षसा''** के अनुसार जो सद्संस्कार, सद्भाव, सद्व्यवहार से रहित है वह राक्षस (असभ्य, बर्बर, जंगली) है।

पोथी पढ पढ जग मुंआ, पंडित भया न कोय ।
ढाई आखर प्रेम (आत्मा) का, पढे सो पंडित होय।।
पंडिय पंडिय पंडिय कण छोड तुसिय खण्डिय ।
सद्दो अत्थोसि मुढसि परमत्थु ण जोणेसि मुढसि ।।

अर्थात् जो केवल अक्षर, शब्द, अर्थ, पुस्तक पढता है परंतु परमार्थ, रहस्य, शिक्षा, आत्मा, प्रेम, सत्य, सद्व्यवहार आदि को न ही पढता हो, न ही जानता है तथा आचरण नहीं करता है वह मूर्ख/मूढ/अज्ञानी है। ऐसा व्यक्ति कण (चावल के लिए धान) को छोडकर तुष को कूटता है। **''ज्ञानं भारं क्रिया विना''** अर्थात् क्रिया/आचरण/व्यवहार के बिना ज्ञान भार स्वरूप है। एक विद्यार्थी ''मातृवत् पर दारेषु'' श्लोक पढने के बाद बच्चों की पुस्तकें फाडता है, दूसरों को मारता है तथा एक महिला जो माथे पर मिट्टी के घडे में पानी लेकर आ रही थी उससे पैसा मांगता है। महिला के द्वारा पैसा नहीं देने पर पत्थर लेकर उसके मटके को फोड डालता है। इन सबकी शिकायत जब उसके पिताजी के पास आती है तब उसके पिताजी उसे इसके बारे में पूछते हैं तब उसने कहा कि हमारे गुरु ने ऐसा करने को कहा है। तब पिताजी उसे लेकर गुरुजी के पास जाकर उपर्युक्त समस्त विषय बताते हैं। गुरुजी के पूछने पर वह विद्यार्थी उपर्युक्त श्लोक बोलकर

कहता है कि - आपने ही कहा था कि पर महिलायें माता के समान हैं, पर द्रव्य मिट्टी के ढेले के समान है तथा प्रत्येक प्राणी मेरे समान है। अत: माँ के समान होने से उस महिला को मुझे पैसा देना चाहिए था परंतु नहीं देने पर मैंने मटके को फोडा क्योंकि दूसरों की वस्तु मिट्टी के समान तुच्छ है तथा पुत्तकें भी तुच्छ है। प्रत्येक जीव मेरे समान होने के कारण मैंने दूसरों को नहीं मारा परंतु मैंने मुझे ही मारा है। इसी प्रकार प्राय: साक्षर व्यक्ति होते हैं। कारण कि वे पुस्तकीय साक्षर जानकारी, रटन्त विद्या को ही सर्वेसर्वा मानकर संस्कार हीन, अक्षम, अव्यावहारिक, अयोग्य होते हैं। वे पुस्तकीय पानी से प्यास बुझाने के समान, पुस्तकीय भोजन से क्षुधा मिटाने के समान, पुस्तकीय गाडी से यात्रा करने के समान व्यवहार करते हैं। पानी में प्रवेश किये बिना तैरने संबंधी केवल पुस्तकीय रटन्त ज्ञान से, लेख, निबन्ध, शोध-प्रबन्ध लिखने से या भाषण सुनने से अथवा तैरने जैसे अभिनय से भी जब तक पानी में उतरकर तैरना प्रायोगिक रूप से सीखा नहीं जाता है, तब तक तैरना नहीं आता है, उसी प्रकार लौकिक या धार्मिक साक्षरता प्रायोगिककरण बिना निष्फल है, अप्रयोजनभूत है, दोषकारक है, हानिकारक है। इसके कुछ कारण निम्नोक्त है -

1) आक्षरिक-पुस्तकीय शिक्षा को अधिक महत्व देना :- पाठ्य-पुस्तकों के कुछ प्रश्नों के उत्तरों को परीक्षा/योग्यता का मापदण्ड स्वीकार करना और उसके अनुसार प्रमाण-पत्र, नौकरी, सामाजिक प्रतिष्ठा आदि प्राप्त होना तथा अन्यान्य शारीरिक, सामाजिक,आध्यात्मिक, नैतिक, व्यावहारिक, दया, करुणा, सेवा, परोपकार, प्रामाणिकता आदि का पाठ्य-पुस्तक, परीक्षा, योग्यता, नौकरी, समाज आदि में गौण होना।

2) ढाई-तीन वर्ष की आयु से पंद्रह-बीस वर्ष तक उपर्युक्त पढाई, परीक्षा में व्यतीत होने के कारण शारीरिक, मानसिक, नैतिक, सामाजिक, व्यावहारिक आदि कार्यों से अपरिचित, अपरिपक्व होना। जिससे उपर्युक्त क्षेत्र में प्रायोगिक जीवन्त पुस्तक एवं परीक्षा में फेल होना।

उपर्युक्त दोषों के लिए विद्यार्थी तथा विद्यार्थी से कुछ दृष्टि से अभिभावक, शिक्षक, शिक्षा-विभाग, सरकार, समाज आदि अधिक दोषी है। इसके विपरीत जो निरक्षरी होते हैं, वे शारीरिक, मानसिक, नैतिक, सामाजिक, व्यावहारिक आदि क्षेत्र में प्रायोगिक रूप से प्रशिक्षित होने के कारण जीवन्त पुस्तक एवं परीक्षा में पास होते हैं । 20-21 वर्ष तक शारीरिक, मानसिक परिपक्वता में वृद्धि की स्थिरता आ जाने के कारण साक्षर व्यक्ति इस दृष्टि से अधकचरा (अधकच्चा-अधपक्का) रह जाता है, क्योंकि इस वय तक पुस्तकीय व्यायामशाला में ही व्यायाम करता रहता है, पुस्तकीय प्रयोगशाला में प्रयोग करता रहता है, पुस्तकीय परीक्षा में पास होता रहता है जिससे उसका कचुमर निकल जाता है। इस विषय का स्पष्टीकरण निम्नलिखित कुछ उदाहरणों द्वारा प्रस्तुत कर रहा हूँ-

1) सुसंस्कार बनाम कुसंस्कार- कुछ दिन पहले मैंने (आ. कनकनंदी) जब कॉलेज, विश्वविद्यालयों में अनुशासन आदि की कमियों के बारे में विरोध प्रकट किया तब कॉलेज के एक लेक्चरार ने कहा कि, स्कूल में अनुशासन होता है, कॉलेज थोडे ही अनुशासन के लिए होते हैं। यह कटु सत्य है परंतु अत्यन्त दु:खद एवं भयावह है। ''विद्या ददाति विनयं'' या ''विनयं ददाति विद्या'' का पूर्ण विलोमी करण आज विद्या के क्षेत्र में है। फैशन-व्यसन, अनुशासन हीनता, बेईमानी, उद्दण्डता, अकर्मण्यता, दयाहीन, अविनय, सेवा से रहित, आलस्यपना, अच्छे विचार एवं कार्य करने के लिए संकोच-अयोग्यता आदि शिक्षा का उद्देश्य/फल या पर्याय बन गया है। ''साक्षर बनाम कुसंस्कार'' कहना यथार्थ होता जा रहा है। इससे विपरीत अधिकांश निरक्षरी व्यक्ति शालीन, विनम्र, परिश्रमी, सरल-सहज, प्रामाणिक, सेवाभावी, दयालु, परोपकारी, सहिष्णु, अच्छे विचार-कार्य करने वाले पाये जाते हैं। पुस्तकीय रटन्त जानकारी रूपी रुक्षता, प्राकृतिक-नैसर्गिक सरल-सहजता, संस्कार, सदाचार, दया-प्रेम-परोपकार, प्रामाणिकता-कर्तव्यनिष्ठा आदि को शुष्क, सारहीन, निर्जीव करती जा रही है। तीर्थंकर, महात्मा बुद्ध, ईसा मसीह, भक्त प्रह्लाद, विश्व कवि रवीन्द्र नाथ ठाकुर, एडीसन (वैज्ञानिक) वाष्प इंजिन के आविष्कारक स्टिफनसन्, कबीर, महापंडित राहुल सांस्कृतायन (केदारनाथ पाण्डे) आदि महाविभूतियाँ वर्तमान की साक्षरता की दृष्टि से निरक्षरी थे। क्या ऐसी विभूति रूपी सूर्य की बराबरी साक्षर रूपी जुगनू कर सकते हैं ?

2) सक्षम बनाम अक्षम - महल के रुम के अन्दर रखे हुए गमले के वृक्ष के समान अधिकांश साक्षर व्यक्ति शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक, नैतिक, व्यावहारिक दृष्टि से अक्षम होते हैं। क्योंकि उपर्युक्त वृक्ष को भले पर्याप्त सुरक्षा, पानी, खाद प्राप्त हो परंतु पर्याप्त सूर्य किरण, वातावरण आदि के अभाव से जैसा उसमें पूर्ण विकास नहीं होता है वैसा ही साक्षर व्यक्ति को भले अङ्क, अक्षर, पुस्तकीय जानकारी प्राप्त हो परंतु पर्याप्त शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक, नैतिक, सामाजिक, व्यावहारिक आदि प्रायोगिक ज्ञान/अनुभव प्राप्त नहीं होता है। इस कारण से वह प्रायोगिक जीवन में उपर्युक्त क्षेत्र में अक्षम पाये जाते हैं। धूर्त लोमडी के समान भले वे दूसरों को ठगकर/शोषणकर जीवन को ढोते रहते हैं, परंतु गौ के समान वह सक्षम, परिश्रमी, परोपकारी, दयालु, भद्र, सरल-सहज, मधुर, पूजनीय नहीं बनते हैं। इसलिए निरक्षरी जितना परिश्रमी, सेवाभावी, परोपकारी, ईमानदार, सहज-सरल होते हैं उतना साक्षरी नहीं होते हैं।

3) अनुभवी विशेषज्ञ (वैज्ञानिक) बनाम साक्षर मुर्ख - ''करत-करत अभ्यास से जडमती होत सुजान'' 'Practice makes a Man perfect'

के अनुसार प्रायोगिक कार्य करने वाले अनुभवी ज्ञानी होते हैं। अनुभव (अनु + भव) के अनुसार होने के पश्चात् जो ज्ञान होता है वह अनुभव ज्ञान है। जैसा की शक्कर खाने के बाद जो ज्ञान कम समय में होता है वह ज्ञान शक्कर के बारे में बहुत समय तक पुस्तकों से पढकर, सुनकर, भाषण देकर या शोध ग्रन्थ लिखकर भी नहीं हो सकता है। यथा - कुम्हार को जो मिट्टी, चाप-ताप, वातावरण आदि का ज्ञान है ऐसा प्रायोगिक वैज्ञानिक ज्ञान प्रायः एक विश्वविद्यालय के विज्ञान के विद्यार्थी से लेकर प्राचार्य तक में नहीं है। इसी प्रकार कृषक को जो मृदा, बीज, मौसम, खेती, बीज बोना, जल-सिञ्चन, बीज निकालना, अनाज की सुरक्षा आदि का प्रायोगिक ज्ञान है, वैसा ज्ञान कृषि विश्वविद्यालय के विद्यार्थी से लेकर प्राचार्य तक में नहीं है। सद्गृहिणी ममतामयी माता में जो सेवा, प्रेम, परोपकार, भोजन, गृहकार्य सम्बन्धी प्रायोगिक ज्ञान है वैसा ज्ञान गृहविज्ञान के विद्यार्थी से लेकर प्राचार्य तक में तथा नर्स, धाई, प्रबन्धक, शिक्षक, न्यायधीश, वैज्ञानिकों में नहीं है। इसी प्रकार श्रमिक, कुम्हार, जुलाह, बढई, मिस्त्री, सुनार, चित्रकार, मूर्तिकार, शिल्पी, वास्तुकार आदि के बारे में जान लेना चाहिए। इतना ही नहीं एडीसन, न्यूटन, जेम्सवाट आदि वैज्ञानिक रवीन्द्र नाथ ठाकुर आदि चिन्तक-कवि-लेखक तथा महावैज्ञानिक तीर्थङ्कर, बुद्ध आदि भी अनुभवी विशेषज्ञ थे न कि साक्षर।

निष्कर्ष रूप में मेरा अभिप्राय यह है कि केवल लौकिक या धार्मिक साक्षरता, पुस्तकीय रटन्त जानकारी को प्राप्त करके, स्वयं को श्रेष्ठ, ज्येष्ठ, ज्ञानी, संस्कारवान्, सक्षम, योग्य, धार्मिक रूप में मनमाने रूप से मानकर अहङ्कार करके अपनी प्रगति/उन्नति को नहीं रोकना चाहिए तथा निरक्षरी को अयोग्य, पापी, अज्ञानी मानकर घृणा नहीं करनी चाहिए ,उन्हें अपमानित नहीं करना चाहिए, उनका शोषण या उन्हें कष्ट नहीं देना चाहिए। कुछ साक्षरी अच्छे होते हैं तो कुछ निरक्षरी बुरें होते हैं। विशेषत: यह दोष भारत में पाश्चात्य देशों की अपेक्षा अधिक है। विदेश में प्रायोगिक शिक्षा होने से वहाँ के साक्षर व्यक्तियों में भारतीय साक्षरों के जैसे आलस्य, अनुशासन हीनता, भ्रष्टाचार, अस्वच्छता, समय अप्रबन्धन, दया-सेवा-परोपकार की कमी, अकर्मण्यता आदि दुर्गुण कम पाये जाते हैं। भारत के लोग उनके फैशन-व्यसन आदि दुर्गुणों के अन्धानुकरण के बदले में यदि उनके सद्गुणों को अपनायेंगे और भारतीय महान् संस्कृति को स्वीकार करेंगे तब वे यथार्थ से संस्कारवान्, सक्षम, वैज्ञानिक, आधुनिक, प्रगतिशील, उन्नत, महान् बनेंगे। ऐसी भावना से मैं (आ. कनकनंदी) लेखन, प्रवचन, शिविर, कक्षा, संगोष्ठी, प्रतियोगिता आदि का आयोजन गत अनेक (25-30) वर्षों से कर रहा हूँ। **यह सब विषय ''तू कहे कादग लिखी मैं कहूँ आँखन देखी'' आधार पर आधारित है।**

लौकिक एवं धार्मिक शिक्षा/ज्ञान में समुचित विकास के नियम

समुचित जल, वायु, सूर्य रश्मि, खाद, मृदा, संरक्षण, क्षेत्र (फैलाव क्षेत्र) के कारण जिस प्रकार एक योग्य बीज विकास करता हुआ विशाल वृक्ष बनकर प्रचुर फूल-फल, बीज, छाया, प्राणवायु, लकडी, औषधि आदि को उत्पन्न करता है, उसी प्रकार समुचित शिक्षा, शिक्षक, पुस्तक, अध्ययन, परीक्षण, निरीक्षण, चिंतन, मनन, ध्यान, योगासन, भोजन, भ्रमण, जिज्ञासा, रुचि, विश्राम, परिकल्पना, सतत् अभ्यास, प्रायोगिककरण आदि से एक योग्य विद्यार्थी (लौकिक या धार्मिक ज्ञान प्राप्त करने के इच्छुक शिशु से लेकर विद्वान्) महान् ज्ञानी बनकर स्व-पर-समाज-राष्ट्र-विश्व का कल्याण कर सकता है।

इस शोधपूर्ण लेख में मैं (आ. कनकनंदी) देश-विदेश के प्राचीन एवं आधुनिक शिक्षा शास्त्रियों के साहित्यों तथा मेरा दीर्घकालीन (45 वर्ष) पंद्रह प्रदेशों के हजारों ग्रामों से लेकर महानगरों के प्राथमिक विद्यार्थी से लेकर शिक्षक, प्राचार्य, वैज्ञानिक, साधु-संत-आचार्यों के अध्ययन-अध्यापन के अनुभव पर लिख रहा हूँ, जिससे विद्यार्थी लाभान्वित हो सके।

1) समुचित मुक्त वातावरण -

जैसा कि उपर्युक्त कारणों से योग्य बीज विशाल वृक्ष बनता है, उस से विपरीत कारणों से या अपर्याप्त कारणों से बीज विशाल वृक्ष नहीं बन सकता है। अच्छे से अच्छा नारियल, आम, ईमली आदि के बीज को भी यदि गमले में बोकर महलों के कक्ष में रखा जावें और समुचित पानी, खाद, सुरक्षा का प्रबन्ध किया जावे तथापि वे बीज अंकुरित होकर वैसा विशाल वृक्ष नहीं बन सकते हैं, जैसा कि वे मुक्त वातावरण, क्षेत्र में समुचित पानी आदि को प्राप्त करके आंधी, तूफान आदि को भी सहन करके विशाल वृक्ष बन सकते हैं। वैसा ही जो विद्यार्थी तनाव-दबाव-संक्लेश से रहित मुक्त शारीरिक, मानसिक, पारिवारिक, सामाजिक, शैक्षणिक, राष्ट्रीय वातावरण में स्वेच्छा से रुचि पूर्वक, जिज्ञासा सहित अध्ययन करता है वह जैसा सर्वांगीण विकास कर सकता है वैसा विकास तनाव-दबाव-संक्लेश से सहित शारीरिक, मानसिक, पारिवारिक, सामाजिक, शैक्षणिक, राष्ट्रीय वातावरण में अनिच्छा पूर्वक अरुचि से जिज्ञासा रहित केवल पुस्तकीय रटंत ज्ञान से नहीं कर सकता है।

शारीरिक-मानसिक रूप से अविकसित दो से ढाई वर्ष के शिशुओं को उनकी इच्छा तथा क्षमता के विपरीत स्कूल में बल पूर्वक भेज दिया जाता है। स्कूल के व्यापारिक,

दबावपूर्ण कृत्रिम, अस्वच्छ वातावरण में भयभीत-आशंकित, असुरक्षित मनस्थिति में बच्चों के मन में ठूँस-ठूँस-कर जानकारियाँ भरी जाती है। जिस प्रकार रुग्ण शरीर वाला अपच रोगी के उस की रुचि के विरुद्ध भोजन मुख में ठूँसने पर, पेट में भर देने पर भी वह भोजन पचता नहीं है, कैलोरी/रस/ऊर्जा का कारण न बनकर और भी अधिक रोग कारक बनता है, वैसा ही उपर्युक्त जानकारियाँ शारीरिक, मानसिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, राष्ट्रीय आदि के विभिन्न रोग के कारण बनती है।इसलिए ऐसी शिक्षा को महात्मा गाँधी, विवेकानन्द, रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा देश-विदेश के अनेक मनोवैज्ञानिक, वैज्ञानिक और शिक्षाशास्त्री अयोग्य मानते हैं।

कुछ वर्ष के बाद जैसे-तैसे अध्ययन समाप्त के बाद आयु तथा जानकारियाँ पहले से कुछ अधिक होने के उपरान्त भी नवीन अध्ययन प्राय: कोई नहीं करते हैं। प्रथमत: विद्यार्थी जीवन में जो पढाई से पीडा, अरुचि, घृणा हुई थी उसके कारण; द्वितीयत: विद्यालय की पढाई को ही ज्ञानार्जन मानने से तथा उपरोक्त पढाई के समाप्त के बाद स्वयं के विद्यार्थी जीवन भी समाप्त हो जाता है इस मानसिकता के कारण आगे ज्ञानार्जन नहीं करते हैं।

2) विविधता, आचरण तथा व्यापकता से युक्त अध्ययन -

विद्यालयीन अध्ययन, धार्मिक अध्ययन तथा इसके अतिरिक्त अध्ययन में भी यथा योग्य विभिन्न विधाओं का तुलनात्मक अध्ययन, प्रायोगिकरण, धार्मिक-सांस्कृतिक-सामाजिक-राष्ट्रीय गतिविधियों में सह भागिता, माता-पिता-गुरु-रोगी-अपंग-असहाय-संकटापन्न मनुष्य, पशु-पक्षी, प्रकृति की सेवा-सुरक्षा आदि कार्य भी करते रहना चाहिए। इससे ज्ञान में वृद्धि, परिपक्वता होने के साथ-साथ ज्ञान का यथार्थ फलस्वरूप जो आचरण है उसे प्राप्त किया जाता है। अन्यथा ''ज्ञान भारं क्रिया बिना'' के अनुसार वह ज्ञान केवल कागजी, अनुपयोगी, अनुत्पादक होकर भार स्वरूप हो जाता है। जैसा कि भुक्त भोजन पाचन के बिना पेट के लिए भारस्वरूप बनता है,रोग कारक बनता है। भोजन के पाचन के लिए तथा जीवन के लिए जिस प्रकार पानी तथा पानी से भी अधिक प्राणवायु (ऑक्सीजन) की आवश्यकता पडती है उसी प्रकार शिक्षा में नैतिकता तथा नैतिकता से भी अधिक आध्यात्मिकता की आवश्यकता है। आकाश जिस प्रकार सर्वव्यापी है उसी प्रकार शिक्षा, धर्म, समाज, राष्ट्र, कानून, राजनीति, विज्ञान, कला, व्यापार, व्यवहार, आचरण, लेन-देन आदि में नैतिकता एवं आध्यात्मिकता व्याप्त है। नैतिकता, आध्यात्मिकता के बिना उपर्युक्त समस्त विधाएँ प्राण/आत्मा के बिना शरीर के समान शव है, मृत है, भारस्वरूप, अहितकारी है।

3) ज्ञान की यात्रा अनन्त तथा आनन्ददायी -

ज्ञान की यात्रा अनन्त है। क्योंकि ज्ञान अनन्त है। ज्ञान की पूर्णता कभी स्कूल, कॉलेज, विश्वविद्यालय, वैज्ञानिक अनुसंधान केन्द्र, गुरुकुल में नहीं हो जाती हैं। वहाँ तो केवल मानचित्र की जानकारी के समान ज्ञान, सत्य, आत्मा आदि की जानकारी प्राप्त होती है। जैसा कि मानचित्र के जानकारी के अनुसार यात्रा/क्रिया करने पर लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है वैसा ही जानकारी से जब आत्मिक आनन्द अनुभव हुआ है तब जानकारी ज्ञान रूप से परिणमन किया है ऐसा जानना चाहिए अन्यथा वह कोरी जानकारी/सूचना/पुस्तकीय रटन्त शब्द है। जैसा कि भुक्त भोजन का पाचन तब प्रारंभ होता माना जाता है जब भोजन से रसादि बनना प्रारंभ होता है। भोजन से रसादि बनने से जिस प्रकार शक्ति बढती है उसी प्रकार जानकारी से आनन्द/ज्ञान बढने से नैतिक, चारित्रिक, आध्यात्मिक शक्ति बढती है। इसलिए ही तो ''णाणं पयासणं'' ''न ही ज्ञानेन सदृषं पवित्रमिह विद्यते'' '' ज्ञानामृतम्'' ''knowledge is supreme light'' ''knowledge is supreme Power'' कहा है। इससे विपरीत ''विद्याविहिनं पशु'' ''सर्वस्य लोचनं शास्त्रं यस्यनास्ति अंध एव स:'' ''अण्णाणि किं जाणइ पुण्णं पावगं सेयं असेयं'' ''पढमं णाणं तदो दया'' कहा है। अत: मोक्ष मार्ग में सम्यग्ज्ञान को सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्चारित्र के मध्य में रखा गया है क्योंकि सम्यग्ज्ञान- सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्चारित्र को प्रकाशित करता है, शुद्ध करता है, संबल देता है। इसलिए जिस अध्ययन से आनन्द अनुभव होता है उसे अध्ययन में रुचि होती है, मन लगता है जिससे उसका अध्ययन आगे सतत मृत्यु तक चलता है। इतना ही नहीं उसकी ज्ञानाराधना जन्मजन्मातंर में भी चलती रहती है जब तक की वह अमृत नहीं बन जाता है। अमृत तक उसकी यात्रा अनन्त होती है क्योंकि अमृत/मोक्ष/परिपूर्णता/शुद्धता/परमात्मा/सर्वज्ञ का स्वरूप अनन्त होता है। इसके पूर्व-पूर्व तक भले वह कोई भी देव, दानव, मनुष्य, ऋषि, मुनि, लेखक, कवि, साहित्यकार, वैज्ञानिक, प्राध्यापक, प्रोफेसर यहाँ तक की गणधर भी क्यों न हो उसकी ज्ञान-यात्रा पूर्ण नहीं होती है। देव से लेकर गणधर तक के ज्ञान यथा योग्य संख्यात, असंख्यात होता है। अनन्त ज्ञान तो सर्वज्ञ परमात्मा का होता है। इस अवस्था के पहले-पहले तक सब कोई विद्यार्थी है, शिष्य है, कोई भी परम् गुरु नहीं है। हजारों, लाखों बी.ए., एम.ए., पी.एच.डी., प्राचार्य, शास्त्री, आचार्य बनने के बाद भी कोई परम गुरू/शास्ता/आप्त/शिक्षक नहीं हो सकता है। ज्ञान की पूर्णता तब हुई जानना चाहिए, जब अक्षय-अनन्त आनन्द/शांति, सुख, शक्ति का प्रकटी करण/अनुभव हो। यह ही इसके लिए प्रमाण/साक्षी है। इसके लिए ही ऋषि, मुनि, गणधर यहाँ तक की चार ज्ञान, चौसठ

ऋद्धियों के स्वामी तीर्थंकर मुनि भी मौन साधना करते हैं। तीर्थंकर मुनि जो चार ज्ञान के धारी होते हैं, वे भी अनन्त ज्ञान के पहले इसलिए उपदेश नहीं करते हैं कि अनन्त ज्ञान/सर्वज्ञता के बिना पूर्ण यथार्थ सत्य का ज्ञान नहीं हो सकता है और अनन्त ज्ञान के बिना पूर्ण यथार्थ प्रतिपादन नहीं हो सकता है। सर्वज्ञ को इतना ज्ञान होता है कि वे एक साथ विश्व की संपूर्ण भाषाओं (718 भाषा) में लाखों वर्ष बोलने पर भी उस अनन्त ज्ञान के अनन्त वां भाग प्रतिपादित करते हैं। वे जितना बोलते हैं उसका अनन्तवाँ भाग चार ज्ञान तथा चौसठ ऋद्धियों के स्वामी गणधर समझते हैं। गणधर जो समझते हैं उसका बहुत ही कम भाग शास्त्रों में लिपिबद्ध करते हैं। उपलब्ध शास्त्र उन शास्त्रों के बहुत ही कम अंश है। उसे भी अधिकांश व्यक्ति से लेकर विद्वान्, आचार्य तक अध्ययन नहीं कर पाते। उसके अर्थ, भावार्थ, रहस्य आदि को जानना तो बहुत दूर है। इसी प्रकार स्कूल, कॉलेज आदि से कुछ डिग्रियाँ प्राप्त करने मात्र से ज्ञान का अनन्तवाँ भाग भी प्राप्त नहीं होता है। अत: धार्मिक या लौकिक थोडा सा ज्ञान प्राप्त करके ज्ञानार्जन को स्थगित नहीं कर देना चाहिए, न ही घमंड करना चाहिए, न ही उस ज्ञान का दुरूपयोग करना चाहिए।

धार्मिक हो या लौकिक शिक्षा/ज्ञान जिसे आनन्द/शांति/एकाग्रता प्राप्त नहीं होती है उससे शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक लाभ के परिवर्तन से उसे क्षति पहुँचती है। नये प्रयोगों से पता चला है कि कॉलेज और विश्वविद्यालयों में पढने वाले छात्रों के दिमागपर काफी दबाव बना रहता है और इससे उनके दिमाग की क्षति भी हो सकती है। अमरीका के आयोवा प्रान्त में महर्षि युनिवर्सिटी ऑफ मेनेजमेंट ने छात्रों के दिमाग की इसी क्षति का आकलन करने के लिए नई व्यवस्था लागू की है। यह जानकारी ब्रेन इंटिग्रेशन रिपोर्ट कार्ड से दी जायेगी। महर्षि युनिवर्सिटी अमरीका में पहली बार नेशनल कॉन्फ्रेंस का आयोजन किया। कॉन्फ्रेंस में बताया गया कि शैक्षिक तनाव, खराब भोजन, शराब का सेवन तथा नींद में कमी के कारण दिमाग पर बहुत बुरा असर पडता है। यह युनिवर्सिटी महर्षि महेश योगी के ज्ञान और योग की विचार धारा का प्रचार-प्रसार करती है। युनिवर्सिटी का कहना है कि शैक्षिक तनाव से दिमाग के प्रफिंटल कॉरटैक्स का नुकसान होता है। अगर यह नुकसान जारी रहा तो छात्रों में चिंता और अवसाद बढता है, साथ ही आँख की रोशनी पर भी प्रभाव पडता है। कई बार तो छात्र इसके कारण उग्र व्यवहार भी करने लगते हैं। विश्वविद्यालयों के अधिकारियों का कहना हैं कि ध्यान और योग से दिमाग की शक्ति को वापस हासिल किया जा सकता है और इससे छात्रों के शैक्षिक प्रदर्शन पर भी उल्लेखनीय प्रभाव पडता है। युनिवर्सिटी के फिजीओलोजी एण्ड हेल्थ विभाग के प्रमुख फ्रेड ट्रेविस ने बताया कि अगर उच्च शिक्षा का उद्देश्य छात्रों की तर्क शक्ति को विकसित करना है तो हमें सबसे पहले

दिमाग पूरी तरह से विकसित करने पर ध्यान देना होगा। ब्रेन इंटिग्रेशन रिपोर्ट कार्ड के तहत परीक्षा के समय छात्रों के दिमाग की जाँच, उनकी भावनाओं के स्तर की जाँच, नैतिक विचारों की जाँच और तर्कशीलता की जाँच आदि की जाती है। इस युनिवर्सिटी के कुछ विद्यार्थियों का कहना है कि योग क्लास में शामिल होने के बाद उन्होंने अपने अंदर नई ऊर्जा को महसूस किया और परीक्षा में भी उत्साह वर्धक परिणाम सामने आये। अनुभव में, देखने में, सुनने में तथा पढने में आता है कि अधिकांश लौकिक शिक्षित विद्यार्थी से लेकर शिक्षक, प्राचार्य तक कुछ अशिक्षित व्यक्तियों से भी अधिक फैशनी, व्यसनी, आलसी, परावलम्बी, अश्लील, उद्दण्ड, स्वार्थी, भ्रष्टाचारी पाये जाते हैं, तो अधिकांश धार्मिक शिक्षित व्यक्तियों में भी कम वेशी उपर्युक्त दुर्गुणों के साथ-साथ सामान्य सरल-सहज व्यक्तियों से भी अधिक धार्मिक-संकीर्णता-कट्टरता-ईर्ष्या, अंधविश्वास, भेद-भाव आदि पाये जाते हैं। इसलिए उपर्युक्त दोनों प्रकार के शिक्षित व्यक्तियों में अनेक नैतिक, व्यावहारिक, आध्यात्मिक कमियाँ तथा समस्यायें पाई जाती हैं।

लौकिक शिक्षा के साथ-साथ यहाँ तक की धार्मिक शिक्षा में एक बडी कमी/विकृति यह है की प्राय: शिक्षा से डिग्री, नौकरी, सत्ता, संपत्ति, प्रसिद्धि, शादी, सामाजिक प्रतिष्ठादि चाहते हैं। ऐसे क्षुद्र लक्ष्य, उद्देश्य के कारण शिक्षा में समुचित विकास नहीं हो पाता है।

संक्षिप्तत: शिक्षा या विद्या को सत्य-तथ्यात्मक जीवनोपयोगी, उदार, वैज्ञानिक, प्रगतिशील, सर्वांगीण विकासकारी, आनन्ददायी, सर्वजीव हितकारी, सर्वजीव उपकारी, शारीरिक-मानसिक-आध्यात्मिक विकास की सहयोगिनी सरल-सहज-नम्रता-स्वावलंबी की पोषिका, दया-करुणा, परोपकार-सेवा-निःस्वार्थ कर्तव्य की प्रेरिका, अनुभव, उत्पादिका, प्रायोगिक-व्यावहारिक प्रणाली से समन्वित होनी चाहिए। उपर्युक्त कारण/विशेषण से ही लौकिक या धार्मिक शिक्षा/ज्ञान में समुचित विकास के नियम हैं। ''सा विद्या या विमुक्तये''।

भारतीय संस्कृति आध्यात्म प्रधान, त्यागमय साधु संस्कृति है। क्योंकि प्राचीन तीर्थंकर, गणधर, बुद्ध, धर्मप्रचारक, समाज सुधारक, लेखक, कवि, चिकित्सक, वैज्ञानिक, गणितज्ञ, व्याकरणज्ञ आदि प्राय: साधु थे। अत: उनके द्वारा प्रतिपादित, लिपिबद्ध ग्रन्थादि में धर्म से अनुसृत ज्ञान-विज्ञान, गणित, चिकित्सा, राजनीति, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, शिक्षाशास्त्र, दर्शन, तर्क, व्याकरणादि का वर्णन है। अत: प्राचीन ग्रंथों का अध्ययन केवल कोरा संकीर्ण साम्प्रदायिक धार्मिक अध्ययन नहीं है, परन्तु उपरोक्त ज्ञान-विज्ञानादि का अध्ययन है । ऐसा ही आधुनिक ज्ञान-विज्ञान, गणित आदि का अध्ययन भी एकान्तत: सत्य-तथ्य-धर्म विहीन नहीं है। विशेषत: आधुनिक विज्ञान के अध्ययन से तो सत्य-धर्म को जानने की एक पद्धति का ज्ञान होता है; संकीर्णता,

अंधविश्वास, हठग्रहिता, भेद-भाव, ऊँच-नीच, अपना-पराया की दीवारें टूटती हैं। अत: लौकिक विद्यार्थियों को प्राचीन ग्रंथों का अध्ययन करना चाहिए, उसके अनुसार आदर्शमय-आध्यात्मिक जीवन जीने वाले साधु-संत, उपाध्याय, आचार्य आदि से ज्ञानार्जन के साथ-साथ उनकी सेवा, भक्ति, व्यवस्था, सत्संगति करनी चाहिए। इसी प्रकार धार्मिक विद्यार्थियों को भी आधुनिक ज्ञान-विज्ञान का समयोचित तथा समुचित अध्ययन तथा प्रायोगिकरण करना चाहिए। इसे सरल भाषा में कहे तो आधुनिकों को धार्मिक बनना चाहिए तथा धार्मिकों को आधुनिक बनना चाहिए। केवल प्राचीन काल में ही इसका समन्वय नहीं हुआ किन्तु वर्तमान में भी देश-विदेश के जितने महान् वैज्ञानिक, लेखक, समाज सुधारक हैं, वे भी सब दार्शनिक, धार्मिक हैं तथा जितने महान् धार्मिक साधु-संत हैं वे भी वैज्ञानिक, लेखक, समाज सुधारक हैं। वैज्ञानिक आदि क्षेत्र में आइन्स्टीन, दौलतराम कोठारी, एम.एम. बजाज, रेस्किन, तालस्टॉय, लिंकन, लाल-बाल-पाल, गाँधी, सुभाषचंद्र बोस, राजा राम मोहनराय, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, विनोबा भावे, डॉ. हेगडेवार गुरुजी, डॉ कलाम तो धार्मिक क्षेत्र में विवेकानन्द, महर्षि अरविन्द, श्रीराम शर्मा आचार्य, आचार्य महावीर कीर्ति, आचार्य तुलसी, आचार्य महाप्रज्ञ, एनीबेसेन्ट आदि-आदि।

मेरा अनुभव है कि प्राय: लौकिक पढाई करने वाले विद्यार्थी से लेकर शिक्षक, प्राचार्य, वैज्ञानिक तक धार्मिक अध्ययन नहीं करते हैं। धार्मिक कार्यक्रम, साधु सेवा, आहारदान, प्रवचन श्रवन, धार्मिक कक्षा-शिविर, आदि में भाग नहीं लेते हैं जिससे वे नैतिकता, आध्यात्मिकता, धार्मिक सत्य-तथ्य से वंचित रहते हैं। ऐसा ही प्राय: धार्मिक अध्ययन करने वाले भी आधुनिक ज्ञान-विज्ञान, गति-विधियों से दूर रहने के कारण आधुनिकता, वैज्ञानिकता, प्रगतिशीलता आदि से वंचित रह जाते हैं। **''धर्म के बिना विज्ञान अन्धा है और विज्ञान के बिना धर्म पंगु''** के अनुसार धर्म रहित आधुनिक शिक्षा/विज्ञान/आधुनिकता/प्रगतिशीलता अन्धता है, अन्धकार से युक्त है। इसके कारण आधुनिक शिक्षा में जो गतिशीलता, प्रगतिशीलता, श्रेष्ठता, ज्येष्ठता होनी चाहिए वैसी नहीं हो पा रही हैं। **''विज्ञान के बिना धर्म पंगु''** के अनुसार रुढीवादी धर्म में सक्रियता, प्रगतिशीलता, नवीन विचारधारा आदि गुण नहीं होने के कारण उस धर्म में स्थिरता आ जाती हैं। जिस प्रकार नदी को बाँध दिया जाता है तो पानी स्थिर हो जाता है और स्थिर पानी गंदा होकर सडने लगता है जिससे उसमें रोगाणु, बदबू आदि उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिए मैंने एक नारा दिया है - ''विश्व को प्रगतिशील बनाने के लिए हमें अपूर्ण विज्ञान तथा अंधविश्वास पूर्ण धर्म को त्याग करके उदारवादी, प्रगतिशील वैज्ञानिक धर्म को स्वीकार करना चाहिए।

श्रुतज्ञान : एक उपेक्षित/विस्मृत सर्व कल्याणकारी वैज्ञानिक ज्ञान

1) श्रुत पञ्चमी का इतिहास -

सर्वज्ञ, सर्वोदयी, हितोपदेशी, विश्व बन्धु भगवान् महावीर के द्वारा प्रतिपादित ज्ञान को सुरक्षित (लिपिबद्ध) कर के आगे की पीढी को ज्ञानवान् बनाने के लिए संकल्पित आचार्य धरसेन जी ने महासेनाचार्य के दो मेधावी शिष्यों पुष्पदन्त और भूतबलि साधुओं को विद्या-अध्ययन कराया। दोनो शिष्यों ने अपनी योग्यता से विद्या-अध्ययन करके ''षट्खंडागम'' सिद्धान्त ग्रंथ की रचना की। ग्रंथ रचना के अनन्तर ज्येष्ठ शुक्ला पञ्चमी को चतुर्विध संघ के सामने पूजा की गई, प्रभावना की गई। तब से श्रुत पञ्चमी (ज्ञान पञ्चमी) महोत्सव रूप से इसको मनाना प्रारम्भ हुआ। आचार्य धरसेन का काल इसवी 38 से 66 है, आचार्य पुष्पदन्तका काल इसवी 66 से 101 है और आचार्य भूतबली का काल 66 से 156 के बीच का है।

2) सर्व कल्याणकारी वैज्ञानिक ज्ञान -

देश-विदेश के विभिन्न दर्शन, धर्म, इतिहास, पुराण, राजनीति, कानून, समाजशास्त्र तथा विभिन्न विज्ञानों के साहित्यों के एक निष्पक्ष, तुलनात्मक, वैज्ञानिक, समीक्षात्मक अध्ययन के बाद मैंने (आ. कनकनंदी) जो भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित तथा पूर्वाचार्यों के द्वारा लिपिबद्ध श्रुत में कुछ विशेषतायें, मौलिकता-श्रेष्ठता-ज्येष्ठतायें अनुभव किया है उसका संक्षिप्त दिग्दर्शन निम्न में कर रहा हूँ। विशेष ज्ञान मेरे 150 ग्रंथों से प्राप्त कर सकते हैं।

सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड अकृत्रिम/शाश्वतिक एवं परिणमनशील है। इसका निर्णयात्मक संपूर्ण ज्ञान विज्ञान को नहीं है। विज्ञान में भौतिक तत्वों का तो कुछ शोध-बोध हुआ है तथा किञ्चित् रूप से जीवद्रव्य, आकाश द्रव्य, काल, गति माध्यम, स्थिति माध्यम का वर्णन पाया जाता है, परंतु जिस प्रकार सर्वाङ्गीण रूपसे गाणितीय/वैज्ञानिक दृष्टिकोण से जीव, भौतिक तत्व (पुद्गल), धर्मद्रव्य (गति माध्यम), अधर्मद्रव्य (स्थिति माध्यम), आकाश, काल का वर्णन है ऐसा वर्णन जैन धर्म को छोडकर अन्य धर्म यहाँ तक कि विज्ञान में भी नहीं है। विश्व का आकार-प्रकार, घनफल और विश्व में स्थित समस्त द्रव्यों की संख्या का वर्णन भी जैनधर्म में जैसा है वैसा अन्य धर्मों व विज्ञान में भी नहीं है। वैज्ञानिक आइन्स्टीन ने विश्व-प्रतिविश्व की परिकल्पना तो की है परंतु वे भी समग्र रूप से उसके क्षेत्रफल, घनफल, सीमा का निर्धारण नहीं कर पाये

और यह निर्धारण अभी तक नहीं हो पाया है।

सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में 23 भौतिक वर्गणायें एवं पांच सूक्ष्म स्थावर जीव ठसाठस भरे हुए हैं, इसका वर्णन भी अन्यत्र नहीं है।

प्राय: प्रत्येक धर्म व विज्ञान परिणमन को तो मानते हैं परंतु विश्व के प्रत्येक द्रव्य में उसके अनन्तगुणी आदि षट्गुण हानि-वृद्धि रूप में जो परिणमन होता है उसका परिज्ञान उन्हें नहीं है। इसी प्रकार काल परिवर्तन रूपी उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी एवं षट्कालों का वर्णन विधिवत् नहीं पाया जाता है।

विज्ञान से यह सिद्ध नहीं हो पाया है कि विश्व कबसे है, कब तक रहेगा, कब नष्ट होगा। जीव कबसे है, उसके गुणधर्म स्वभाव क्या हैं, उसकी शुद्ध-अशुद्ध अवस्था क्या है ? जैनधर्म में सूक्ष्म एकेन्द्रिय निगोदिया जीव से लेकर पञ्चेन्द्रिय मनुष्य, पशु-पक्षी, नारकी, स्वर्ग के देव एवं पूर्ण शुद्धता को प्राप्त शुद्ध जीव (सिद्ध परमात्मा) का वर्णन, 14 गुणस्थान (आध्यात्मिक सिढीयाँ) मार्गणा, जीवसमास के माध्यम से अत्यन्त वैज्ञानिक/गाणितीय पद्धति से किया गया है।

गणित का अविष्कार भारत में हुआ परंतु जैन धर्म के अलौकिक गणित में अनन्त, असंख्यात, सागर, पल्य, संख्यात आदि का वर्णन है ऐसा विधिवत् वर्णन अन्य धर्मों में व विज्ञान में भी नहीं है। अलौकिक गणित में जो चिन्ह/उपमान आदि का वर्णन किया गया है वह भी अन्यत्र कहीं नहीं है।

शुद्ध परमाणु की एवं शुद्ध जीव की गति एवं मृत्यु के बाद जीव की गति की मंदता, मध्यमता, तीव्रता का जो वर्णन जैनधर्म में पाया जाता है वह अन्यत्र नहीं है। यहाँ तक कि आइन्स्टीन ने जो प्रकाश की परम गति जो की एक सेकण्ड में तीन लाख कि.मी. माना है वह भी दोष पूर्ण हैं। अभी तक विज्ञान अविभाज्य परमाणु की खोज नहीं कर पाया है परंतु इसका वर्णन जैनधर्म में है। शुद्ध परमाणु में स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और उसकी गति आदि का वर्णन जैसा जैनधर्म में है वैसा विज्ञान में नहीं है। विज्ञान में वनस्पति को जीव रूप में सिद्ध कर लिया है और स्वीकार कर लिया है परंतु पृथ्वीकायिक, जलकायिक, वायुकायिक को जीव रूप में सिद्ध नहीं कर पाया है।

प्राय: प्रत्येक धर्म तथा मनोविज्ञान अच्छे-बुरे भाव एवं कर्म के फल को तो मानते हैं परंतु जिस प्रकार जैनधर्म में योग (मन-वचन-काय का परिस्पन्दन), उपयोग (विभिन्न भावनायें एवं आवेश) से अनन्तानन्त भौतिक कर्म परमाणु आकर्षित होकर आत्मा के प्रत्येक असंख्यात प्रदेशों में बंधते हैं, स्थिर रहते हैं एवं समय प्राप्त होने पर फल देते हैं ऐसा गाणितीय/वैज्ञानिक वर्णन अन्यत्र नहीं है। जैन धर्म का सर्वश्रेष्ठ

सिद्धान्त अनेकान्तवाद (सापेक्षवाद) है। इस सिद्धान्त को व्यावहारिक जीवन मे तो सब अपनाते हैं लेकिन किसी भी धर्म-दर्शन में इसका विधिवत् वर्णन नहीं पाया जाता है। वैज्ञानिक आइन्स्टीन ने इस सिद्धान्त को माना है परंतु आइन्स्टीन का सापेक्षतावाद भी जैनधर्म के अनेकान्तवाद सिद्धान्त के बराबर व्यापक/सार्वभौम नहीं है।

वनस्पति से लेकर पशु-पक्षी-मनुष्य में जो आकार-प्रकार, स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, भाव, क्रिया-प्रतिक्रिया, संवेदना, ज्ञान, अनुभूति आदि होती है उसके कार्य-कारण सम्बन्धों का सम्पूर्ण ज्ञान अन्यत्र कहीं नहीं है।

जैनधर्म में जैसे गाणितीय/वैज्ञानिक दृष्टि से कुमति, कुश्रुत, कुअवधि, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान, केवलज्ञान का वर्णन पाया जाता है वैसा वर्णन अन्य धर्मों में यहाँ तक विज्ञान में भी नहीं है।

जीव के पूर्वोत्तर अनन्त भवों का वर्णन जैसे जैनधर्म में है वैसा वर्णन अन्यत्र कही नहीं है । जीव के जो औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस और कार्माण आदि पांच शरीरों का विधिवत् वैज्ञानिक वर्णन है वह भी अन्यत्र नहीं है। संसारी जीव ही जिस प्रकार क्रम विकास करता हुआ भगवान् बनता है ऐसा विधिवत् क्रम विकास का वर्णन अन्यत्र नहीं मिलता है। जब कोई साधक अरहन्त बनता है उस समय समवशरण की जो रचना होती है उस समय अरहन्त 718 भाषाओं में उपदेश देते हैं। उनके हजारों पशु-पक्षी शिष्य होते हैं। उनका शरीर स्फटिक के समान पारदर्शी होता है। आकाश में गमन होता है। उनके प्रभाव से षट्ऋतुओं के फल-फूल एक साथ फलते-फूलते हैं, दुर्भिक्ष, युद्ध, महामारी आदि नहीं होता है ऐसा वर्णन अन्यत्र कहीं भी देखने को नहीं मिलता है। प्रलय का जिस प्रकार व्यवस्थित वर्णन जैनधर्म में है वैसा वर्णन अन्यत्र नहीं है।

जैनधर्म में जो साम्यवाद/समाजवाद का वर्णन भोगभूमि, सर्वार्थसिद्धि के देव और सिद्ध अवस्था के प्रकरण में पाया जाता है ऐसा वर्णन अन्यत्र कहीं नहीं पाया जाता है।

जैनधर्म में जिस आत्मा-परमात्मा का व्यवस्थित/क्रमबद्ध/गाणितीय वर्णन है ऐसा वर्णन अन्यत्र नहीं पाया जाता है।

श्यामविवर (तमस्कंध)/ Black Hole का भी जैसा वर्णन जैनधर्म में है ऐसा वर्णन विज्ञान में भी नहीं है। वैज्ञानिक अभी इसकी खोज में लगे हुए हैं।

3) उपेक्षित/विस्मृत सर्व कल्याणकारी वैज्ञानिक ज्ञान -

ऐसे महान् ज्ञान का अध्ययन, अध्यापन, प्रचार-प्रसार-प्रायोगिकरण (जीवन

में अनुकरण) जैन गृहस्थ, श्रावक, पण्डित से लेकर साधु-संत में भी कम हो रहा है। उपर्युक्त ज्ञान जो सर्व जीव हितकारी है उसे भी साम्प्रदायिक रूपी संकीर्णता में कैद कर लिया गया है। स्कूल, कॉलेज, विश्व विद्यालयादि में जीवन में अनुपयोगी भी सत्य-असत्य विषयों को निम्न कक्षाओं से लेकर उच्च कक्षा तक में पढते हैं, पढाते हैं परंतु उपर्युक्त विषयों को पढाया नहीं जाता है। जब जैन लोग ही स्वयं नहीं पढते हैं और न स्वयं के बच्चों को पढाते हैं तब हम कैसे अपेक्षा कर सकते हैं कि दूसरे भी पढे स्कूल, कॉलेज, विश्व विद्यालयों में पढाया जावे ?

वैज्ञानिक अनुसंधान से विज्ञान में तथा विदेश में श्रुत में वर्णित सिद्धान्तों को मान्यता मिलती जा रही है तथा अनुकरण करते जा रहे हैं परंतु भारत में यहाँ तक कि जैनियों में भी उन सिद्धान्तों को न जानते हैं न ही मानते हैं न ही स्वीकार करते हैं। इन सब कमियों को दूर करने के लिए हम बहुत वर्षों से साहित्य, लेख, शिविर, संगोष्ठी, वेबसाइट आदि के माध्यम से पुरुषार्थ कर रहे हैं तथा विदेश में भी यह सब कार्य कर रहे हैं।

आचार्य कनकनंदी के साहित्य का विमोचन करते हुए
ग.ग. श्री कुन्थुसागरजी गुरूदेव तथा आर.के. जैन (मुम्बई)

mPp f'k{kk dh dfe;k rFkk ml nj dju d mik;

¼vkpk; Jh dudunh th dh Mk-¼ ik-½ ieleu tu l HkV okrk½

Hkkjrh; f'k{kk e lnkpkj] lLdkj] oKkfudrk] ixfr'khyrk] uerk] dr0;fu"Bk] mnkjrk vkfn x.kk dk leUo; gk ,rnFk vkpk; Jh dudunh th ll?k i;kljr gA blfy, vkpk; Jh dudunh th u dN ikQll ,o fo}kuk dh ikFkuk ij lokn;f'k{kk eukfoKku uked fo'kky xFk dh jpuk dh] rFkk ml lc/kh nk fo'kky jk"Vh; lxkf"B;k dk vk;ktu Hkh djk;kA bld lkFk&lkFk o Lo; ikFkfed fo|ky; l ydj fo'ofo|ky; rd d f'k{kdk] ikQlj] fo|kfFk;k dk i<kr g rFkk f'kfoj d{kk vkfn yr gA bruk gh ugh Hkkjrh; f'k{kk vul/kku dUn l ydj jkt- f'k{kk vul/kku dUn okyh ikBÓiLrdk e tk dfe;k xyfr;k g mUg nj dju d fy, i;kljr gA ,rnFk ml dUn d fun'kdk l fopkj foe'k] i=0;ogkj vkfn d ek/;e l djd ekxn'ku n jg gA bl Ük[kyk e vk-Jh- dh ppk ik- ieleu tu l gbA Mk- ieleu tu] l[kkfM;k fo'o fo|ky; d ik- ,o ik—r d foHkkxk/;{k gA rFkk oreku e ^^Hkkjrh; /ke n'ku d ryukRed v/;;u dUn]** tkfe;k fefy;k ;fuoflVh d Hkh lnL; gA

vk-Jh-dudunh th %& ¼ieleu th l]½ Hkkjr e ikFkfed fo|ky;k ,o fo|kfFk;k e dN rk vu'kklu] uerk] 'kkyhurk] lLdkj g ijr mPpf'k{kk ¼dkyt] fo'ofo|ky;½ e mijkä lx.kk d foijhr] vu'kklufoghurk] mRÜk[kyrk] nknkxhjh] v'yhyrk] v/;;u dh deh vkfn D;k g tc fd ikFkfed f'k{kk l mPp f'k{kk e ; x.k vf/kd gku pkfg, \

ik- ieleu tu %& vkpk; Jh vki tk Qjek jg g og lgh gA bld db dkj.k gA ;Fkk %& mPp f'k{kk e x# f'k"; e vkReh; lcU/k ugh jgrk g ftll f'k"; x# dk lEeku ugh nrk g vkj vkn'k dk ikyu ugh djrk gA x# Hkh lgh le;

ij Lo&Lo fo"k; dk l;kj l le>kr g, ugh i<kr gA tc rd x#f'k"; e lc/k] tkudkjh] mŸkjnkf;Ro dk ck/k ugh gkxk rc rd fou;] vu'kklu vkfn lHko ugh gA

vkpk; Jh %& Hkkjrh; lL—fr vk/;kfRed] 'khy lnkpkj dh g ijr mPpf'k{kk e tk v'yhyrk] vufrdrk] QgMiuk] Q'ku&0;lu c<rk tk jgk g D;k ;g lgh gA bl dl nj fd;k tk; \

ik- tu %& ljdkj lkL—frd dk;Øek d fy, /ku nrh g vkj fo|kfFk;k dk vf/kdkj ml /ku d [kp dk jguk gA ftll fo|kFkh ml /ku dk ydj lkL—frd d uke ij FkkMk [kp djr g vkj vf/kdk'k gMi yr g rFkk lL—fr d uke ij QgM] HkkM dk;Øe i'k djr gA bu dk;Øek e yMfd;k v'yhy vxin'ku ;ä uR;kfn djd lekt] n'k e v'yhyrk Qykrh gA Vh-oh-lL—fr d dkj.k c<r diHkko d dkj.k vkt cPpk l ydj lekt ml vilL—fr d u'kk l xflr gkrk tk jgk gA blfy, mUg mPp f'k{kk d ilk'ku d }kjk euk dju d ckn Hkh o ekur ugh g rFkk x.Mkxnh ij mrj vkr gA lkL—frd dk;Øek e Hkkjrh; lL—fr d vudy Hktu] xkuk] uR;] ukVd] lxhr vkfn rk gkuk pkfg, ftll cPpk dh lkL—frd pruk tkxr gk vkj cPpk dk lokxh.k fodkl gkA

vkpk; Jh %& ;g rk lp gA ge Hkh d{kk l ydj f'kfoj] lx"Bh] ifr;kfxrk] dEI;VjkbTM ifr;kfxrk] i'uep] vk'k ifr;kfxrk vkfn j[kr g ftll cPpk e lkgl] lxBu] ie] lLdkj] ufrdrk] vfHk0;fä dh {kerk] n'kie] dr0;fu"Bk vkfn c<A

vkpk; Jh %& mPpf'k{kk e tk puko gkrk g mll f'k{kk] vu'kklu] n'kHkfä d foijhr x.Mkxnh] nknkxhjh] ekjihV] gR;k;] cykRdkj] fQty [kp] in"k.k] gMrky vkfn n"iofŸk;k ikb tkrh g blh idkj jfxx e Hkh mijkä nx.k ik; tkr g rFkk nk ,d eghuk f'k{kk d {k= e rk i<kb gkrh gh ugh g D;k ;g mfpr g \ bl dl nj fd;k tk; \

ik- tu %& ljdkj u fo|kfFk;k dk jktuhfr dk ik;kfxd if'k{k.k nu d fy, bl dk;Øe dk ikjEHk fd;k Fkk ijr jktufrd nyk dk lfØ; gLr{ki] /ku lg;kx rFkk LokFkijrk d dkj.k tk cPp i<u fy[ku e fiNM g rFkk x.Mkxnh] nknkxhjh e vkx gkr g o ,l dk;k e vxvk gkr gA bu n"iofŸk;k dk jkdu d fy, geu puko dh vkpkj lfgrk cukb g tk bl idkj g &

1. tk fo|kFkh igy dHkh Qy ugh gvk gkxk ogh puko yMxkA
2. fiNy o"k dk fjtYV II fMohtu gkA
3. 25 o"k l vf/kd meokyk u gkA

de l de fo|kFk e ; ;kX;rk; gkuk vfuok; gA tc geu bl lfo/kku dk ykx fd;k rc dN fo|kfFk;k u ,o jktuhfrKk u fojk/k fd;k ,o U;k;ky; e ;kfpdk i'k dh yfdu U;k;ky; u gekj i{k e fu.k; fn;k ,o gekj fu;ek dk lgh fl) fd;kA

vkpk; Jh %& vHkh Hkh Hkkjr e ikFkfed f'k{kk l ydj mPpf'k{kk rd e Hkk"kkxr] l)kfUrd dkQh dfe;k gA ;Fkk & Hkkjrh; lL—fr ikp gtkj o"k ikphu g vkj Hkkjr dh [kkt okLdkfMxkek ¼dkyEcl½ u dh ,lk fdrkck e fyf[kr :i e g rFkk i<k;k Hkh tkrk gA ijr Hkkjrh; ok³e;]r{kf'kyk] foØef'kyk] ukynk vkfn fo'ofo|ky;k dh f'k{kk i)fr] ogk v/;;u d fy, vku oky n'k&fon'k d fo|kFkh] fo}ku vkdj tk ogk v/;;u djr Fk vkj Hkkjr fo'ox# dgyk;k D;k ;g lR;&rF; Ldy] dkyt dh iLrdh; feF;k o.kuk dk [kk[kyk fl) ugh djrkA

^ukl k l **^blkj** ,o **^blkj** l ej ikl **^jkelr** lcU/kh ,d oKkfud fjkV vk;k g(ftll fl) gkrk g fd Hkkjrh; lL—fr ik;% 9½ yk[k o"k ikphu gA blh idkj tc Hkkjr dk ikphu uke vk;kor g vkj ;gk d fuoklh vk; Fk rc fon'k l vk; ;gk vk; vkj ;gk d vuk;k ¼EyPN] nfoM½ dk mŸkj Hkkjr l [knM fn;k vkj o nf{k.k Hkkjr e fuokl dju yxA ;g o.ku ,frgkfld] Hkkxkfyd] oKkfud

lR; rF; l foijhr gkr g, Hkh ,lk o.ku ikBÓiLrdk e ik;k tkrk gA blh idkj _"kHkno d i= Hkjr l vk;kor dk uke Hkkjr gvk ijr 'kdUryk ,o n";Ur d i= Hkjr l Hkkjr gvk ,lk o.ku gA blh idkj vdcj dk egku ekuuk] tu /ke d 23 rhFkdjk dk dfYir ekuuk] egkohj dk tu /ke d lLFkkid ekuuk vkfn blh idkj vud xyfr;k ikBÓiLrdk e g ftldk fujlu eu viu fofHk™k lkfgR; e fd;k g rFkk f'k{kk vul/kku dnk l Hkh l'kk/ku djok jgk gA

ik- tu %& gk ! vkpk; Jh bu xyfr;k dk vo'; l'kk/ku gkuk pkfg,A ,lh Hkkfr;k n'k&fon'k d vud fo}ku] ikQl] y[kdk e gA ¼mUgku bl lc/kh vud mnkgj.k fn;½ ejh vHkh ikjley vxoky ¼vefjdk½ l ppk gb Fkh fd oKkfud –f"V l Hkh Lox] ujd dh lŸkk gA

vkpk;Jh %& bl lc/kh eu Hkh viuh vud fdrkck e o.ku fd;k gA

f'k{kk tl ifo= {k= e Hkh VÓ'ku] Qth ekd'khV] lVhfQdV] fo|kky;k e v/;;u ugh gkuk vkfn D;k g\

ik- tu %& vkpk; Jh ;vU; in'kk e vf/kd g yfdu mn;ij e de gA bl dkj.k f'k{kk {k= e x.koŸkk ugh gA

vkpk; Jh %& vkt dh ppk e e> mlh idkj il™krk gb tlh il™krk jkt- f'k{kk vul/kku dn d fun'kd Mk- 'kjnpn ijkfgr dh HkV l gb FkhA o Hkh foue] lR;xkgh] lR;fu"B] dr0;ijk;.k 0;fä g(mlh idkj vkiu Hkh f'k{kk {k= dh dfe;k dk Lohdkjk ,o l'kk/ku] ifjoru d bPNd gA ge Hkh ifjoru d fy, i;kljr gA blhfy, ge Hkh vki lg;kx nr jfg, ,o ge Hkh vkidk lg;kx nxA ge lk/k gkr g, Hkh gekjk 95% ifr'kr dk; f'k{kk ij gkrk gA D;kfd ;kX; f'k{kk d fcuk 0;fä] ifjokj] lekt] jk"V] fo'o dk fodkl lHko ugh gA

अच्छाईयों के नाशक भारत की रुढिवादी पढाई

(पढाई की कमियाँ, कारण एवं निवारण)

अभी तक मैंने (आ. कनकननंदी) सच्ची शिक्षा, शिक्षक, शिक्षार्थी, शिक्षाफल के बारे में 1) सर्वोदय शिक्षा मनोविज्ञान (वृहत् एवं लघु) 2) नैतिक शिक्षा एवं सामान्य ज्ञान (हिन्दी, अंग्रेजी) 3) करें साक्षात्कार यथार्थ धर्म, भाव, शिक्षा, संस्कृति का लेखन किया तथा दो राष्ट्रीय वैज्ञानिक संगोष्ठियों का आयोजन हुआ। इसके साथ साथ 26 धर्म दर्शन विज्ञान प्रशिक्षण शिविर, शताधिक प्रशिक्षण कक्षाएँ, स्कूल-कॉलेज में प्रवचन, अनेक शोधपूर्ण लेखों का प्रकाशन हुआ है। शिक्षा तथा पाठ्य पुस्तकों की कमियों को दूर करने के लिए राष्ट्रीय एवं प्रादेशिक शिक्षा अनुसंधान केंद्रों को सुझाव देकर कुछ परिवर्तन किया है एवं कर रहा हूँ। यह सब इसलिए कर रहा हूँ कि भारत में जो रुढिवादी शिक्षा है उसमें परिवर्तन हो, सबका सर्वांगीण-सर्वोदय विकास हो, स्व-पर राष्ट्र, विश्व में शोध-बोध, सुख-समृद्धि, शांति हो। मेरी दीर्घ 45 वर्षों का 16 प्रदेशों का अनुभव है कि भारतीय शिक्षा, शिक्षक, शिक्षार्थी, शिक्षाफल, शिक्षा-पद्धति कम गुणकारी है तथा अधिक अहितकारी है। इससे मुझे पीडा है कि विश्व गुरु भारत स्वतंत्रता के 58 वर्षों के बाद भी इतने भ्रष्ट, पिछडे, नकलची, फैशनी-व्यसनी, अनैतिक, अवैज्ञानिक है तथा आध्यात्मिकता से दूर क्यों है ? इस पीडा एवं भावना से प्रेरित होकर पुन: यह लेख लिख रहा हूँ जिससे भारतीय अपने दुर्गुणों को जानकर उसे त्यागे एवं सुगुणों को स्वीकार करके महान्, आदर्श, सुसंस्कृत, पुरुषार्थी, सदाचारी, प्रगतिशील, वैज्ञानिक, उदार, धार्मिक, अनुशासी, आध्यात्मिक बने। क्योंकि इससे ही समस्त व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, वैश्विक सुख-शांति-समृद्धि सम्भव है। भारत में अभी शिक्षा का प्रचार-प्रसार बहुत हो रहा है, कुछ शिक्षित व्यक्ति देश-विदेश में विभिन्न क्षेत्र में अच्छे कार्य कर रहे हैं, विज्ञान-प्रोद्यौगिकी में कुछ विकास हो रहा है तथापि शिक्षा में जो धन-जन-मन-समय-श्रम का विनियोग हो रहा है उसके अनुपात से लाभ कम परंतु हानियाँ अत्याधिक है। अर्थात् आय/उत्पादन से व्यय/खर्च अधिक है जो कि दिवालिया/विनाश/समस्या/बुराइयों के लिए कारण है। निम्न में कुछ बिंदुवार इस सम्बन्धी खुलासा प्रस्तुत है।

1) स्व शारीरिक-मानसिक-आध्यात्मिकता के विध्वंसक -

शारीरिक-मानसिक रूप से अपरिपक्व दो तीन वर्ष के शिशु को उसके इच्छा के विरुद्ध तथा भारी बस्ता लादकर उसके सोने के समय के अन्तर्गत भी स्कूल भेजते

हैं। शीत ऋतु में जब 7 बजे बच्चे स्कूल जाते हैं जबकि सूर्योदय 7:15 बजे होता है और बच्चों को 6 बजे प्राय: जगाकर, नहा-धुलाकर तैयार करके मुँह अंधेरे (भोर) में भेजते हैं। इससे बच्चों के शारीरिक-मानसिक-दिनचर्या-प्राकृतिक-जैविक घडी के ऊपर कुप्रभाव पडता है। इतना ही नहीं परिवार के वियोग से, जाने-आने की समस्या से, स्कूल के स्नेह रहित वातावरण से, कृत्रिम-बोझिल इच्छा विरुद्ध दण्डात्मक रटन्त पढाई से, गृहकार्य से, ट्यूशन से उपर्युक्त कुप्रभावों में और भी वृद्धि होती है। जिस शिशु अवस्था में 15-16 घण्टे की पर्याप्त नीन्द शारीरिक-मानसिक विकास एवं स्वास्थ्य के लिए चाहिए उस अवस्था में उसे पढाई के कारण अपर्याप्त नीन्द लेनी पडती है जिससे उसके शारीरिक-मानसिक स्वास्थ्य के विकास के परिवर्तन में विभिन्न शारीरिक-मानसिक रोग हो जाते हैं, जिससे वह पढाई भी सही रूप से नहीं कर पाता है। पढाई में गुणवत्ता, उत्पादकता भी नहीं आ पाती है। इसके साथ साथ वह अवसाद, चिडचिडा, डरपोक, हीनग्रंथी से ग्रसित हो जाता है जिससे और भी अनेक शारीरिक-मानसिक, पारिवारिक, सामाजिक समस्यायें उत्पन्न होती है।

उपर्युक्त कारणों के साथ-साथ पढाई की अस्त-व्यस्तता के कारण विद्यार्थी पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, राष्ट्रीय, सेवा, परोपकार, आध्यात्मिकता आदि जीवनोपयोगी कार्यक्रमों में भाग नहीं ले पाता है जिससे वह उपर्युक्त पारिवारिक आदि की शिक्षा-दीक्षा, गुणवत्ता, अच्छाईयों से वंचित हो जाता है। विद्यार्थी केवल स्कूल की पढाई को ही सब कुछ मानकर और पढाई की सफलता को ही जीवन की सफलता मानकर पुस्तकीय रटन्त जानकारी में 15-20 वर्ष लगा देता है जिससे वह शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक दृष्टि से स्व-कार्य, गृहकार्य, सामाजिक कार्य, धार्मिक कार्य आदि नहीं करता है या नहीं कर पाता है जिससे भी वह शारीरिक आदि से अयोग्य, दुर्बल हो जाता है; जिससे वह स्व-दैनिक कार्य भी शारीरिक रूप से करने में असमर्थ होता है तो मानसिक संकीर्णता, हीनग्रंथी-अहंग्रंथी आदि के कारण मानसिक उर्वरता-गुणवत्ता-उदारता-उत्पादकता आदि की कमी होने से अन्य विषयों को कम महत्व देता है, स्वीकार कम करता है, जिससे मानसिक रूप से भी प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से हानि होती है। लौकिक शिक्षा में प्राय: आध्यात्मिक शिक्षा का अभाव होने से विद्यार्थी आध्यात्मिक ज्ञान से अपरिचित हो जाता है, उससे घृणा करने लगता है और उससे दूर हो जाता है। इससे जो महान् अपूरणीय क्षति होती है उसके अनुपात से लाभ अत्यंत कम है भले इस लौकिक शिक्षा से वह चतुर्थ श्रेणी के कर्मचारी से लेकर उद्योगपति, वैज्ञानिक, प्रधानमंत्री, राष्ट्रपति तक क्यों न बन जाए क्योंकि नैतिक,

आध्यात्मिक विकास ही सम्पूर्ण विकास है व उससे प्राप्त सुख-शांति अक्षय अनन्त है। भौतिक सुख-सुविधाएँ तो क्षणिक है एवं मानसिक आदि विभिन्न अशांति व समस्याओं को जन्म देने वाली हैं। परंतु यह विषय आध्यात्मिक ज्ञानाभाव के कारण वह कैसे समझ सकता है।

2) पारिवारिक-आर्थिक-सामाजिक-राष्ट्रीयता के विध्वंसक -

उपर्युक्त वर्णित कारण एवं परिणाम (हानियाँ) के साथ-साथ अन्य भी अनेक हानियाँ हैं। यथा - विद्यार्थी स्व-रुढिवादी पढाई में इतना अस्त-व्यस्त एवं दबाव से युक्त हो जाता है कि जिससे वह पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय कार्यक्रम में सहभागिता एवं सहयोग से वंचित हो जाता है। **पहले तो विद्या दान था बाद में विद्या का व्यापार हुआ किंतु वर्तमान में विद्या के माध्यम से शोषण एवं भ्रष्टाचार चल रहा है।** इससे विद्यार्थी-जीवन में आर्थिक हानियाँ एवं अपव्यय भी होता है। जब वह पढाई, ट्यूशन, एडमीशन के लिए, परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिए, परीक्षा एवं प्रतियोगी परीक्षा में शुल्क से लेकर लाखों रूपये घूस देता है तब उसमें विद्रोह, शोषण, दगाबाज, असामाजिकता की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। विद्यार्थी जीवन में पारिवारिक-उत्तरदायित्व, सहयोग के कार्य नहीं करने के कारण वह परिवार, निर्वाह भी नहीं कर पाता है; जिससे वह विवाह के बाद एकल परिवार में रहना पसंद करता है। वह इसके लिए परिवार में लडाई-झगडा भी करता है। इस कारण भारत में वर्तमान में संयुक्त परिवार विघटित हो रहे हैं। जिससे नई पीढी सामाजिक-संरचना, मधुरता, समन्वय, शिक्षा, अनुभव से वंचित होती जा रही है। इस कारण से अनेक शारीरिक, मानसिक एवं सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न हो रही हैं। इस परिस्थिति में राष्ट्रीयता असंभव है क्योंकि राष्ट्रीयता, पारिवारिकता एवं सामाजिकता का वृहत् स्वरूप है। **इतना ही नहीं मेरा (आ.कनकनंदी) का व्यक्तिगत अनुभव है कि ऐसे साक्षर व्यक्ति पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक, राष्ट्रीय, सेवा, सहयोग आदि कार्य से घृणा करते हैं, उससे दूर रहने को अपनी विशेषता मानते हैं। उपर्युक्त पारिवारिक कार्य करने वाले को गँवार, अशिक्षित, गरीब, पिछडे, असहाय, अयोग्य मानते हैं।**

3) परम सत्य, संस्कृति, सभ्यता के विध्वंसक -

विद्यालय की पढाई में परम सत्य यथा - आत्मा, परमात्मा, मोक्ष आदि के बारे में विशेष अध्ययन, अध्यापन, प्रशिक्षण नहीं होने के कारण ऐसे विद्यार्थी इससे वंचित हो जाते हैं। विशेषत: भारतीय संस्कृति, ज्ञान-विज्ञान, आध्यात्मिकता परम

सत्य के लिए, परम सत्य के द्वारा, परम सत्य के निमित्त है परंतु भारत में ऐसे महान् ज्ञान का धर्म निरपेक्षता के नाम पर, आधुनिकता के नाम पर, पाश्चात्य अन्धानुकरण के कारण या विषम पंथ-मतवाद के कारण इसका अध्ययन, अध्यापन नहीं हो रहा है। भले ही आज वैज्ञानिक अनुसंधान के कारण पाश्चात्य जगत् में विशेषत: वैज्ञानिकों में इस प्रकार की रुचि , आवश्यकता ,गुणवत्ता ,महानता बढती जा रही है। **इसलिए आज भारत में महान् आदर्श, महान् लक्ष्य के अभाव से विद्यार्थियों के लिए भी भ्रष्ट नट-नटी (हीरो -हीरोइन), नेता, राजनेता, खिलाडी आदर्श पुरुष हैं, जिनका अन्धानुकरण करते हुए विद्यार्थी स्वयं को गौरव, आधुनिक, प्रगतिशील अनुभव करते हैं।** इस कारण विद्यार्थियों को हमारे प्राचीन महापुरुष या आधुनिक देश-विदेश के महापुरुषों के बारे में ज्ञान नहीं है परंतु नट-नटियों के दीवाने हैं। इसलिए ऐसे विद्यार्थियों के लिए रटन्त पुस्तकीय सही या गलत ज्ञान ही सत्य है, अश्लील, भ्रष्ट फैशन-व्यसन ही संस्कृति है, अर्धनग्न, विकृत, कुत्सित वेशभूषा, खान-पान, रीति-रिवाज, रहन-सहन, भाषा-व्यवहार ही सभ्यता है।

आधुनिक शिक्षा की अच्छाइयाँ :-

उपर्युक्त विभिन्न कमियाँ, विकृतियाँ एवं समस्याओं के साथ साथ मेरे कुछ उज्ज्वल, मधुर अनुभव यह हैं कि कुछ आधुनिक उच्च शिक्षित विशेषत: विज्ञान एवं गणित के अध्येता (विद्यार्थी) या वैज्ञानिक आधुनिक सोच सम्पन्न, देश-विदेश के कुछ व्यक्ति, विनम्र, जिज्ञासु, कर्तव्यनिष्ठ, उदार, धार्मिक, आध्यात्मिक बनते जा रहे हैं। इसमें विभिन्न कारणों में से एक कारण वैज्ञानिक ज्ञान एवं अनुसंधान है। वैज्ञानिक ज्ञान, अनुसंधान पद्धति से बुद्धि एवं भावना के साथ साथ कर्तव्य भी सत्यग्राही, उदार, प्रगतिशील बन जाता है जिससे वे स्वयमेव श्रेष्ठ बनते जाते हैं। और भी एक कारण यह है कि विज्ञान के अनुसंधान से स्वयं का ज्ञान कितना कम है यह परिज्ञान हो जाता है तथा आध्यात्मिक ज्ञान की श्रेष्ठता-ज्येष्ठता एवं उपादेयता का परिज्ञान आनुसंगिक रूप से हो जाता है; इससे वह धर्म/आध्यात्मिकता की ओर स्वयमेव प्रभावित होकर आकर्षित हो जाते हैं। यह गुण एवं प्रवृत्ति मध्य काल में नहीं थी। इस दृष्टि से आधुनिक शिक्षा श्रेष्ठ है, ज्येष्ठ है एवं अनुकरणीय भी है। उपर्युक्त कमियाँ मैंने हिंदी भाषी प्रदेशों में अधिक अनुभव की है। अहिंदी भाषी प्रदेशों में उपर्युक्त कमियाँ कम हैं। इसलिए भारत के अधिकांश वैज्ञानिक, लेखक, दार्शनिक, साधु-संत, समाज सुधारक, नोबल पुरस्कार विजेता आदि अहिंदी भाषी प्रदेश के ज्यादातर हुए हैं और हो रहे हैं।

कारण एवं निवारण :-

इस संबंधी विस्तृत वर्णन मैंने मेरे उपर्युक्त ''सर्वोदय शिक्षा मनोविज्ञान'' आदि में किया है तथापि इस लेख में कुछ संक्षिप्त वर्णन निम्नोक्त है -

शिक्षा केवल औपचारिक, कागजी, रटन्त, परीक्षा पास, डिग्री, नौकरी, स्टेटस् सिम्बल, अर्थोपार्जन, शादी-विवाह, समय पास, भेडचाल आदि के लिए ही न होकर सर्वाङ्गीण विकास, जीविका निर्वाह के साथ साथ जीवन निर्माण-निर्वाण (सा विद्या या विमुक्तये) ज्ञानार्जन शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक विकास, स्व-पर राष्ट्र, विश्व में सुख, शांति, समृद्धि के लिए होना केवल आवश्यक ही नहीं अनिवार्य होना विधेय है। एतदर्थ शिक्षाफल, शिक्षा, शिक्षक, शिक्षार्थी, शिक्षा पद्धति होना भी अनिवार्य शर्त है इसके लिए एक फार्मूला भारतीय प्राचीन श्रेष्ठ आध्यात्मिक पद्धति एवं आधुनिक प्रगतीशील वैज्ञानिक पद्धति का समुचित, सम्यक् समन्वय। केवल हिंदी भाषी प्रदेश में ही नहीं भारत तथा विश्व में सत्य-तथ्य परक सर्वोदयी आध्यात्मिक, वैज्ञानिक, गाणितीय, सर्वजीव हितकारी, सर्वजीव सुखकारी शिक्षा-दीक्षा का प्रचार-प्रसार, प्रायोगीकरण हो ऐसी महती मंगल भावना के साथ - **आचार्य कनकनंदी**

''सा विद्या या विमुक्तये।'' ''णाणं पयासणं।'' ''ज्ञानामृतम्।''

प्रो. प्रेम सुमन जैन (भूतपूर्व डीन सुखाडिया वि.वि. उदयपुर) को स्व–रचित साहित्य प्रदान करते हुए आ. कनकनन्दीजी

असत्यग्राही, विदेशी पिछलग्गु है, भारतीय बुद्धि एवं शिक्षा

देश - विदेश के विभिन्न विधा के साहित्यों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वस्तुतः प्राचीन भारत विश्वगुरु रहा है - एतदर्थ निम्नोक्त कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं। यथा - गांधार विश्वविद्यालय (तक्षशीला विश्वविद्यालय), वल्लभी विश्वविद्यालय, नालन्दा विश्वविद्यालय, विक्रमशीला विश्वविद्यालय के साथ - साथ भारतीय आध्यात्म, ज्ञान-विज्ञान, दर्शन, गणित, शिल्प, संगीत, भाषा तथा इसके शोध-बोध-आविष्कारक, प्रचार-प्रसारक-निर्माण तथैव च तीर्थङ्कर, बुद्ध, ऋषि, मुनि, लेखक आदि-आदि। उपर्युक्त विश्वविद्यालय तथा तीर्थङ्कर आदि के पास केवल भारत के लोग ही शिक्षा-दीक्षा प्राप्त नहीं करते थे परंतु विभिन्न विदेश के प्रबुद्ध विद्वान् भी शिक्षा - दीक्षा प्राप्त करते थे। कालान्तर से विभिन्न कारणों से भारत दीर्घकाल तक परतन्त्र रहा जिससे भारत के ज्ञान-विज्ञान आदि में ह्रास तथा विकृतियाँ होती गयी। यथा - मानसिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक, भाषागत, वेश-भूषा, खान-पान आदि सम्बन्धी। दीर्घ परतंत्रता के कारण उपर्युक्त विकृतियाँ इतनी व्यापक और गहरी होती गयी कि स्वतंत्रता के 59 वर्ष के बाद भी उन विकृतियों में आपेक्षित सुधार, परिवर्तन, ह्रास नहीं हुआ है अपितु कुछ क्षेत्र में, कुछ दृष्टि में तो और भी विकृतियाँ व्यापक एवं गहरी होती जा रही हैं। यथा - पाश्चात्य अन्धानुकरण की बुद्धि, शिक्षा, वेष-भूषा, भाषा आदि। उपर्युक्त पिछलग्गु प्रवृत्ति के मुल कारण हैं- असत्यग्राही बुद्धि एवं शिक्षा, इसके बिना पिछलग्गुपना संभव नहीं है। हाँ ! गुणग्राहिकता संभव है। गुण जहाँ भी हो, जिसमें भी हो ग्रहण करना श्रेष्ठ है परंतु अन्धानुकरण/असत्यग्राही/पिछलग्गुपना/संकीर्णता/हठग्राहिता निकृष्ट है, विनाश के कारण हैं।

वैसे मैंने (आ. कनकनंदी) इसके लिए 1) सर्वोदय शिक्षा मनोविज्ञान 2) भारत को गारत तथा महान् भारत बनाने के सूत्र 3) करें साक्षात्कार यथार्थ सत्य का 4) शिक्षा - संस्कृति एवं नारी गरिमा 5) भारतीय आर्य 6) युग निर्माता भगवान् ऋषभदेव 7) विश्व इतिहास 8) ऋषभ पुत्र भरत से भारत आदि पुस्तकों की रचना की है तथापि यहाँ पर कुछ संक्षिप्त वर्णन कर रहा हूँ -

1) शिक्षा में असत्यग्राही - पिछलग्गुपना -

भारत एक प्राचीन ज्ञान-विज्ञान का देश होने के साथ-साथ पृथ्वी के सबसे अधिक लिखित साहित्य, शिलालेख, मंदिर, स्तूप, भग्नावशेष आदि भारत में होने पर

भी विदेशी लेखक आदि के सत्य-असत्य, भ्रामक, अपमानजनक विषयों को निम्न शिक्षा से लेकर उच्च शिक्षा में पढते-पढाते हैं। जिन्हें सत्य-असत्य आदि की भी जानकारी हैं ऐसे विद्यार्थी से लेकर शिक्षक, लेखक, सरकार, न्यायालय, शिक्षा अनुसंधान केंद्र तक संशोधन करने में असमर्थ हैं। विद्यार्थी पुस्तक में वर्णित असत्य विषय से विपरीत सत्य विषयों को प्रस्तुत करता है तो उसके अङ्क काट दिये जाते हैं। शिक्षक भी यदि सत्य विषय पढाता है उसे भी समस्याओं को झेलना पडता है। इसी प्रकार लेखक, सरकार, न्यायालय से लेकर शिक्षा अनुसंधान केंद्र में भी कुछ सही दिशा में प्रयास होता है तो उसका भी विरोध अन्य प्रतिपक्षी, लेखक, राजनैतिक पार्टी आदि करके सही प्रयास को भी विफल बना देते हैं। इसके कारण 'भारतीय आर्य' 'संस्कृति', सभ्यता, भाषा, महापुरुष आदि के बारे में यद्वातद्वा, अनर्गल, अपमान-जनक विषय भी पढते हैं, पढाते हैं, भाषण में बोलते हैं, टी.वी., सिनेमा, समाचार पत्र में प्रचार-प्रसारित करते हैं।

2) विचार - व्यवहार में असत्यग्राही - पिछलग्गुपना -

भारतीय महान् आध्यात्मवादी - विश्वकल्याणकारी या आधुनिक श्रेष्ठ विचार - व्यवहार को अधिकांश भारतीय स्वीकार तो नहीं करते हैं परंतु विदेशी अपसंस्कृति तथा भारतीय भ्रष्ट नेता, अभिनेता, खिलाडी आदि का पिछलग्गु व्यवहार करते हैं। यथा - आध्यात्मिकता, सादा जीवन उच्च विचार, निर्व्यसन, शाकाहार, ध्यान-योग, प्राकृतिक जीवन - प्रकृति प्रेम, अहिंसात्मक प्रवृत्ति, परोपकार, सेवा, दान-दया-त्याग, पुरुषार्थ आदि के बदले भौतिकता, आडम्बरपूर्ण कृत्रिम जीवन, दिखावा, भ्रष्टाचार, अनुशासनहीनता, शोषण, मिलावट, अस्वच्छता, अप्रामाणिकता, दीर्घसूत्रता, ईर्ष्या - प्रवृत्ति, आलस्यवृत्ति, अस्वस्थ प्रतिस्पर्धा आदि।

3) वेश-भूषा-भाषा-भोजन-पेय में असत्यग्राही - पिछलग्गुपना -

शालीन, स्वस्थ्य, स्वास्थ्यप्रद, ऋतु अनुकूल, श्रेष्ठ, शुद्ध, वेश-भूषा-भाषा-भोजन-पानी को Out of date मानकर भारतीय छोडते जा रहे हैं तथा अश्लील, अस्वास्थ्यकर, ऋतुप्रतिकूल, हिंसात्मक, अशुद्ध, अवैज्ञानिक, पर्यावरण प्रदूषक वेश-भूषा-भाषा-भोजन-पेय को आधुनिक, बडप्पन, प्रगतिशील, बोल्डनेस मानकर अपनाते जा रहे हैं।

अभी वैज्ञानिक शोध से भारतीय धर्म, दर्शन, ध्यान-योग, शाकाहार,

आयुर्वेद, प्रसाधन-सामग्री, वेश-भूषा-भाषा-भोजन-पेय, श्रेष्ठ, ज्येष्ठ, उपादेय सिद्ध होते जा रहे हैं जिससे पाश्चात्य के प्रबुद्ध व्यक्ति ग्रहण करते जा रहे हैं जिससे भारत के कुछ प्रबुद्ध गुणग्राही तो दिल-दिमाग से स्वीकार करके ग्रहण कर रहे हैं परंतु कुछ व्यक्ति केवल फैशन-व्यसन रूप से दिखावा कर रहे हैं। इसलिए विश्वगुरु भारत स्वतंत्रता के 59 वर्ष के बाद भी विकासशील है तथा भ्रष्ट, गरीब, हिंसा-आतङ्कवाद से संत्रस्त है। वृक्ष की स्थिति, समृद्धि के मुख्य कारण उसके मूल हैं, उसी प्रकार व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र से लेकर विश्व के विकास के मूल कारण हैं - सत्य-निष्ठा, गुणग्राहकता, प्रामाणिकता, पुरुषार्थ, अहिंसा, सदाचार, सादा जीवन उच्च विचार, कर्तव्य निष्ठा, सत् शिक्षा, सुसंस्कृति, सुसंस्कार आदि आदि। मेरी भावना है कि भारत का हर व्यक्ति उपर्युक्त गुणों से महान् बने जिससे भारत महान् बनेगा। क्योंकि भारत के पास धरोहर रूप से सुदीर्घ आध्यात्मिकवादी सुसंस्कृति है जो कि पृथ्वी में अन्यत्र दुर्लभ है। ऐसी संस्कृति के अभाव से भी यदि दूसरे देश आगे बढ रहे हैं तो हमें तो उनसे आगे होना ही विधेय है। हम स्वयं आदर्श बनकर ही स्वयं सुखी, सम्पन्न बन सकते हैं तथा दूसरों के लिए भी आदर्श, अनुकरणीय बन सकते हैं। जैसा कि आधुनिक काल में भी स्वामी विवेकानंद, महर्षि अरविंद, रवींद्रनाथ ठाकुर, उत्कल बंधु मधुसुदन दास, महात्मा फूले, वैज्ञानिक प्रफुल्लचंद्र राय, जगदीश चंद्र बसु, आचार्य शांतिसागर, आचार्य महावीर कीर्ति, आचार्य तुलसी, आचार्य महाप्रज्ञ, पं. श्रीराम शर्मा आचार्य, विनोबा भावे, लाल-बाल-पाल-गांधी-सुभाषचंद्र बोस, डॉ. हेडगेवार, डॉ. राधाकृष्णन, वैज्ञानिक दौलतराम कोठारी, भारत रत्न विश्वश्वरैया, गणितज्ञ रामानुजन्, डॉ. कलाम, बाबा आप्टे आदि आदर्श पुरुष हैं। इनके अतिरिक्त और भी अनेक आदर्श महापुरुष भारत के हर क्षेत्र में हैं परंतु इनकी संख्या जघन्य तथा असंगठित होने के कारण इनका अनुकूल प्रभाव कम पड रहा है। अतः भारत में परिवर्तन के लिए इन आदर्श पुरुषों को संगठित होकर कार्य करना अनिवार्य है, विधेय है।

-: अमृतानुभव :-

प्रकाशमान सूर्य भी उल्लू को नहीं दिखाई देने पर भी जिस प्रकार सूर्य दोषी नहीं है परंतु स्वयं उल्लू दोषी है उसी प्रकार प्रकाशमान सत्य भी यदि किसे नहीं दिखाई देता है तो वहाँ सत्य में दोष नहीं है परन्तु जिसे दिखाई नहीं देता है उसमें दोष है।

विज्ञान में भी है अज्ञानता एवं संकीर्णता

प्रकृति के व्यवस्थित, क्रमबद्ध निरीक्षण, परिक्षण, शोध-बोध, अविष्कार को विज्ञान कहते हैं। वैज्ञानिकों के पुरुषार्थ, सत्यनिष्ठा, लगनशीलता, धार्मिक पक्षपात से रहितपना आदि के कारण प्रायः 400 वर्षों में जो आधुनिक विज्ञान ने विकास किया है वह बहुत उल्लेखनीय है। प्रकृति के रहस्यों के उद्घाटन से उसके उपयोग करने के विभिन्न उपाय/उपकरणों का निर्माण हुआ हैं, हो रहा है और होगा भी। विज्ञान का क्षेत्र केवल पहले से भी अधिक विस्तृत नहीं हुआ है परंतु पहले के नियम/सूत्र/उपकरण विस्तृत के साथ-साथ सूक्ष्म/शुद्ध/परिमार्जित/परिवर्धित भी हुआ है। इतना ही नहीं, महान् वैज्ञानिक आईन्स्टीन के सापेक्ष सिद्धान्त, तथा नीलवोर्न आदि वैज्ञानिकों के ‘‘The theory of every thing" "Unified theory" आदि के कारण आधुनिक विज्ञान पूर्ववर्ती विज्ञान से नवीन रूप धारण करता जा रहा है। इसके कारण आधुनिक विज्ञान स्थूल-भौतिकता से सूक्ष्म-भौतिकता, स्थूल-शरीर से जीनोम, 3 आयाम से 4 आयाम, होते हुए बहु आयाम, पृथ्वी गृह के जीव सत्ता से होते हुए ब्रह्माण्ड के अन्य अनेक ग्रहों में जीव की सत्ता की स्वीकार्यता, चेतन मन से होते हुए अचेतन, अवचेतन से सुपर चेतन-पराचेतन तक पहुँचने की कोशिश हो रही है। इन सब अच्छाइयों, उपलब्धियों के साथ-साथ विज्ञान में कुछ कमियाँ/अज्ञता एवं संकीर्णता हैं जिसके कारण विज्ञान की गति एवं सीमा में अपेक्षित तीव्रता तथा विस्तृतता नहीं आ पा रही है। स्पष्टता से कहें तो विज्ञान की भौतिक निष्ठा तथा इंद्रिय एवं यंत्रों की प्रामाणिकता की स्वीकार्यता ही विज्ञान की गति एवं सीमा के विस्तृत होने में बाधक हैं। विज्ञान इन कमियों को भौतिकता से, दार्शनिकता से होते हुए आध्यात्मिकता की स्वीकार्यता से दूर कर सकता है। क्योंकि -

विज्ञानं भौतिक ज्ञानं दर्शनं तत्त्व निर्णयः।
धर्मः आत्मोन्नतेमार्गः उत्तरोत्तर महान् ॥ आ. कनकनंदी

भौतिक ज्ञान को विज्ञान कहते हैं, तत्त्व निर्णय को दर्शन कहते हैं, जिस मार्ग पर चलने से आत्मिक उन्नति, शांति मिलती है, उसको धर्म कहते हैं। विज्ञान से दर्शन एवं दर्शन से धर्म श्रेष्ठ है। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने भी कहा है -

Science is blind without religion and religion is lame without science.

धर्म से रहित विज्ञान अंधा है तथा विज्ञान से रहित धर्म पंगु है।

विज्ञानं सभ्यता दातृ, दर्शनं संस्कृतिः प्रदम्।

धर्मः शान्ति प्रदातास्यादुत्तरोत्तरतो महान् ।। आ. कनकनंदी

विज्ञान सभ्यता का दाता है, दर्शन संस्कृति को देता है। धर्म शांन्ति प्रदाता है। तीनों उत्तरोत्तर महान् है।

समाप्तिं यत्र विज्ञानं दृष्टिः प्रारंभ्यते ततः।

दर्शनस्य कलं धर्मः, सर्व धर्म प्रतिष्ठितम्।। आ. कनकनंदी

जहाँ विज्ञान समाप्त होता है, वहाँ से दर्शन प्रारम्भ होता है, दर्शन का फल धर्म है, सर्व धर्म के आधार पर आधारित है। विज्ञान का क्षेत्र इंद्रिय, यंत्र तथा भौतिक होने से विज्ञान का परिसर सीमित है। दर्शन का विषय मानसिक, भौतिक-अभौतिक होने से इसका परिसर विज्ञान से भी अधिक है। धर्म का विषय आध्यात्मिक, भौतिक-अभौतिक, इहलोक-परलोक, सार्वदेशिक-सार्वकालिक एवं सार्वभौम होने से इसका क्षेत्र आकाश के समान सर्वव्यापी है।

Where science is lost, then Philosophy is start, where Philosophy is lost, then Religion is start.

जहाँ विज्ञान की सीमा समाप्त होती है, वहाँ दर्शन प्रारम्भ होता है, जहाँ दर्शन समाप्त होता है, वहाँ धर्म प्रारंभ होता है।

आहारेण समं ज्ञानं, दर्शनं स्याज्जलोपम् ।

धर्मः प्राणाश्च वायुश्च, त्रीणि तत्त्वानि जीवितुम्।। आ. कनकनंदी

विज्ञान आहार के सदृश है, दर्शन पानी के सदृश है, सद्धर्म प्राणवायु के सदृश है। तीनों जीवन यापन के तत्त्व हैं।

परम सत्य की प्राप्ति के उपाय :-

उदयति न नय श्रीरस्तमेति प्रमाणं, क्वचिदपि च न विद्मो यति निक्षेपचक्रम्।
किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मिन्ननुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव ।।

समयसार कलश

जहाँ पर पूर्ण सत्य (परम ब्रह्म आत्मा) का साक्षात्कार होता है या जहाँ पर पूर्ण सत्य है, वहाँ पर नय श्री (आंशिक सत्य) का उदय नहीं होता है, प्रमाण अस्तगत (विकल्प शून्य) हो जाता है। निक्षेप समूह का असद्भाव हो जाता है। अधिक क्या वहाँ पर केवल एक अद्वैज सत्य ही प्रकाशमान रहता है, द्वैतभाव विलीन हो जाता है। अर्थात् पूर्ण सत्य स्वयंसिद्ध, स्व प्रतिष्ठित, स्वावलम्बी, स्वतंत्र, पर निरपेक्ष एवं तर्क के अगोचर है। उपनिषद में भी कहा है - ''यस्मात् निवर्तते वचनं मनसा सह'' उस सत्य

का प्रतिपादन वचनातीत है। यहाँ तक कि क्षुद्र शक्तिधारी मन का भी प्रवेश सत्य में नहीं हो सकता है। केवल सत्य का साक्षात्कार अनुभव के माध्यम से होता है। आधुनिक वैज्ञानिक आईन्स्टीन ने भी कहा है-

Einstein says, "We can only know the relative truth, the real truth is known only to the universal observer."

हम लोग केवल सापेक्ष सत्य को जान सकते हैं, परंतु सम्पूर्ण सत्य को केवल विश्वदर्शी ही जान सकते हैं। सर्वदर्शी आइन्स्टीन की अपेक्षा निम्नोक्त जीव ही हो सकता है।

Universal observer of Einstein is none else but the Almighty (Sarvjna Deva) with infinite Powers of Knowledge and bliss. (Cosmology - old & new)

''जो सर्वशक्तिमान अनंतज्ञान-शक्ति एवं सुख सम्पन्न, वही सर्वदर्शी-सर्वज्ञ है।''

केन्द्राकर्षण शक्ति के आविष्कारक महान् वैज्ञानिक न्यूटन ने अपना उद्गार जगत् के सन्मुख निम्न प्रकार रखा था- ''हम लोग ज्ञानरूपी समुद्र से अमूल्य रत्नादि प्राप्त नहीं कर पाये हैं, परंतु केवल कौडी-सीप प्राप्त किये हैं।'' इनका उद्गार कितना मार्मिक है। स्वयं वैज्ञानिक होकर भी अपने ज्ञान को अत्यन्त तुच्छ मानते हैं एवं मानना भी यथार्थ है, क्योंकि ज्ञान अथाह, अनन्त सागर के समान है। वैज्ञानिकों का ज्ञान, ज्ञानरूपी सिंधु के सामने एक बिंदु प्रमाण है।

"We are beginning to oppreciate better, & more thorughly, how great is the range of our ignorance."

(The world is Modern Science by Leopold Infeld P. 60)

''हम लोग, हमारे अज्ञान का फैलाव कितना बडा है, यह और अच्छी तरह से समझने और महसूस करने लगे हैं।''

"Science should leave off making Pronouncement, the rivir of knowledge has too often turned back on itself

(The mysterious universal. P. 138)

सर जेम्स लिखते हैं - शायद यह अच्छा हो कि विज्ञान नित नयी घोषणा करना छोड दे, क्योंकि ज्ञान की नदी बहुत बार अपने आदि श्रोत की ओर बह चुकी है।

The outstanding achievement of twentieth century Physics is not the theory of relativity with its wielding to-

gether of space and time or the theory of quantum with its present apparent negation of the laws of caustion or the dissection of the atom. With the resultant discovery that things are not what they seem. It is resultant discovery that things are not what they seem. It is the general recognition that we are not yet in contact with ultimae reality.

एक दूसरी जगह वे लिखते हैं - ''बीसवीं सदी का महान् आविष्कार सापेक्षवाद या क्वान्टम् सिद्धान्त नहीं है, और परमाणु विभाजन ही। इस सदी का महान् अविष्कार तो यह है कि वस्तुएँ वैसी नहीं है जैसी कि वे दिखती हैं। इसके साथ सर्वमान्य बात तो यह है कि हम अब तक परम वास्तविकता के पास नहीं पहुँचे हैं।''

''Scientific theories arise, develop and Perish they have their spane of life with its sucesses and triumpps only to give way later to new ideas and a new out look".

(The world in modern science by leopold Infeld P.23.)

वैज्ञानिक सिद्धान्त समूह उदय होते हैं, उन्नति करते हैं एवं समाप्त हो जाते हैं। उनकी कृत, कार्य एवं विजय का जीवन निर्धारित समय तक है। केवल वे कुछ नवीन मार्ग, नवीन भाव, नवीन धारायें एवं कुछ नवीन दृष्टिकोण देते हैं।

Science is not in contact with ultimate reality.

(Mysterious Universe P-111.)

वैज्ञानिकों को ऐसा लगा - ''वैज्ञानिक अभी तक परम वास्तविकता से बहुत परे हैं।''

We are not yet in contact with ultimate reality.

''अभी तक हम चरम सत्य के समीप नहीं है।''

Things are not what they seem.

''पदार्थ वैसे नहीं है, जैसे हम देखते हैं।''

विज्ञान की अज्ञता एवं संकीर्णता के कुछ उदाहरण :-

उपर्युक्त वर्णन से सिद्ध होता है कि स्वयं अनेक महान् वैज्ञानिकों से लेकर अनेक महापुरुषों ने विज्ञान की अज्ञता (अल्पज्ञता) तथा संकीर्णता (भौतिकता, इंद्रिय, यंत्रों की संकीर्णता) को स्वीकार किया है और अभी भी स्वीकार कर रहे हैं जो कि उनकी महानता, सत्यनिष्ठता का द्योतक है। ऐसी प्रवृत्ति तो सामान्य व्यक्तियों से लेकर अधिकांश धार्मिक-व्यक्तियों में भी नहीं पायी जाती है तथापि विज्ञान की कमियों के कुछ उदाहरण प्रस्तुत कर रहा हूँ - विस्तृत परिज्ञान के लिए मेरी (आ.कनकनंदी) 1)

विश्व विज्ञान रहस्य 2) ब्रह्माण्डीय जैविक भौतिक एवं रसायन विज्ञान 3) अनन्त शक्ति सम्पन्न परमाणु से लेकर परमात्मा 4) धर्म दर्शन एवं विज्ञान 5) वैज्ञानिक आइन्स्टीन के सिद्धान्तों को पुनः परिक्षण की आवश्यकता आदि का अध्ययन करें।

I) **परिवर्तित अपूर्ण सिद्धान्त** - अणु सिद्धान्त, प्रकाश की गति सिद्धान्त, गुरुत्वबल, ब्रह्माण्ड के सिद्धान्त आदि इसके उदाहरण हैं।

II) **आधार हीन परिकल्पित मन** - महा विस्फोट सिद्धान्त, जीवोत्पत्तिवाद, डार्विन के विकासवाद आदि इसके उदाहरण हैं।

विज्ञान की कमियों के कारण :-

आधुनिक वैज्ञानिक परम्परा ही समयावधि कम (300-400 वर्ष), वैज्ञानिकों की अल्पज्ञता (क्योंकि वैज्ञानिक सर्वज्ञ/अनन्तज्ञानी नहीं), इंद्रियाँ एवं यंत्रों की क्षमता सीमित, भौतिक केन्द्रित समस्त परीक्षण-निरीक्षण-प्रमाण-साक्षी आदि इसके प्रमुख कारण हैं। यथा - आकाश में स्थित बादल, आकाशीय पिण्ड, वायु, धूली, Mass, Atom आदि का ज्ञान तो विज्ञान कर सकता है परंतु आकाश का यथार्थ ज्ञान नहीं कर सकता है क्योंकि आकाश अभौतिक (अमूर्तिक) होने से उसमें स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, वजन, रेडियेशन, भौतिक अणु रचना, आइसोटोप, Half life, (अर्धायु) आदि संभव नहीं है जिसके माध्यम से विज्ञान परीक्षण, निरीक्षण, प्रमाण, सिद्धान्त मानता है। इसी प्रकार शुद्ध जीव द्रव्य, निश्चय काल द्रव्य, गति माध्यम द्रव्य (धर्म द्रव्य), स्थिति माध्यम द्रव्य (अधर्म द्रव्य) भी अभौतिक (अमूर्तिक) होने से उसे विज्ञान वर्तमान की पद्धति से नहीं जान सकता है भले उसकी परिकल्पना (अनुमान) कर सकता है। जब अभी तक विज्ञान शक्तिशाली सूक्ष्म दर्शक यंत्र के माध्यम से भी इलेक्ट्रॉन आदि स्थूल भौतिक Mass को नहीं देख पाया है तथा विश्व के 95% भौतिक तत्त्वों को नहीं जान पाया है जिसे विज्ञान Black matter कहते हैं तब अभौतिक तत्त्वों को कैसे जान सकता है। इतना ही नहीं, Black hole जो कि हजारों सूर्य के Mass के बराबर है, उसे भी नहीं जान पाया है।

अभी तक जब कोई भी वैज्ञानिक स्वयं को, स्वयं के मन को यहाँ तक कि स्वयं के शरीर को भी पूर्णतः नहीं जान पाया है या जानने का दावा भी नहीं किया है तब शुद्ध अणु से लेकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की बातें तो अलग हैं। अभी तो महान् वैज्ञानिक न्यूटन से लेकर आइन्स्टीन के सिद्धान्त तक संदेह की सीमा में आ गये हैं। जब 1970 सन् तक विज्ञान पर्यावरण सुरक्षा (जीव रक्षा, अहिंसा, Ecology) पारिस्थितिकी आदि के बारे में विशेष सोचा तक भी नहीं करता था, जो विज्ञान का अभी एक मुख्य

मिशन है, तब क्या 1970 सन् के पहले जो आध्यात्म विज्ञान में इसके बारे में बहुत ही पहले से शोध-बोध, प्रचार-प्रसार-प्रायोगिक करण होता आ रहा है वह क्या अवैज्ञानिक, मिथ्या, अनावश्यक था? कदापि नहीं। इसी प्रकार शाकाहार, ध्यान, योगासन, पवित्र भावना, परोपकार, कर्म सिद्धान्त, अनेकांत सिद्धान्त, जीव की शाश्वतिकता/अमरता, स्वर्ग, नरक, मोक्ष, वस्तु व्यवस्था, आध्यात्मिक अनन्त ज्ञान, ब्रह्माण्ड-प्रतिब्रह्माण्ड, अमूर्तिक द्रव्य आदि के बारे में जान लेना चाहिए।

फ्रांस के सूक्ष्म जीव विशेषज्ञ लुइ पाश्चर ने सूक्ष्म जीवों तथा उनके द्वारा होने वाली जीव-रासायनिक प्रक्रियाओं का विधिवत् अध्ययन किया तथा जैविक-रासायनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया किंतु क्या उनसे पहिले वे सूक्ष्म जीव नहीं थे? वास्तव में ये सभी सूक्ष्म जीव आदि पहिले से भी थे किंतु उनका अध्ययन प्रारम्भ करने पर, वे वैज्ञानिक उनके आविष्कर्ता नहीं बन जाते।

विज्ञान में इसी प्रकार प्रकाश को केवल ऊर्जा मानते थे किंतु खोजों से ज्ञात हुआ कि प्रकाश किरणें वास्तव में सूक्ष्म कणों-फोटॉन की एक धारा है जिसमें वे तीव्र वेग से गति करते हैं।

विज्ञान की अज्ञता एवं संकीर्णता का कुछ संक्षिप्त विवरण

1) आधुनिक विज्ञान केवल भौतिक/मूर्तिक सत्य-तथ्य, प्रमाण, साक्षी, क्रिया-प्रतिक्रिया, गुण-धर्म, अवस्था, ऊर्जा को ही जानता है, मानता है, विश्वास करता है। परंतु भौतिक से भी अनन्त गुणीत जो अभौतिक/अमूर्तिक सत्य-तथ्य, प्रमाण आदि ब्रह्माण्ड में विद्यमान है उसे न जानता है, न मानता है, न विश्वास करता है।

2) इंद्रिय एवं यंत्रों के माध्यम से जो जाना जाता है, उसे ही मानता है। इंद्रिय एवं यंत्रों की क्षमता/शक्ति सीमित एवं भौतिक होने से इसके माध्यम से असीमित-अनन्त अभौतिक तत्त्व को नहीं जान सकता है। इस कारण से भी विज्ञान में प्रथम बिंदु में वर्णित अज्ञता एवं संकीर्णता है।

3) विज्ञान की परम्परा/समयावधि सुदीर्घ नहीं होने से तथा कोई भी वैज्ञानिक सम्पूर्ण अनन्त ज्ञानी/सर्वज्ञ नहीं होने से भी विज्ञान में अज्ञता एवं संकीर्णता है।

4) अमूर्तिक-अध्यात्मिक अनुभव, ज्ञान, प्रमाण, ज्ञेय, सत्य-तथ्य को भी विज्ञान नहीं मानता है क्योंकि इस अमूर्तिक-आध्यात्मिक अनुभव को भौतिक यंत्र या इंद्रियों से नहीं जाना जा सकता है। इससे विज्ञान सबसे श्रेष्ठ, ज्येष्ठ, प्रत्यक्ष-अनुभूत विशाल ज्ञान एवं सत्य से रहित है। उपर्युक्त कमियों के त्याग से विज्ञान तीव्रता से व्यापक विकास करेगा ऐसी पूर्ण संभावना है।

नास्ति भी है - सत्य एवं सुख प्राप्ति के उपाय

सत्य सार्वभौम ,शाश्वतिक,सर्वव्यापी, अनंत गुण धर्मात्मक होने के कारण विश्व में परम सत्य /महा सत्ता को छोडकर अन्य कुछ भी नहीं है। यथा-

परम सत्य /महा सत्ता

नैवासतो जन्म सतो न नाशो दीपस्तम: पुद्गलभावतोस्ति । वृ.स्व.स्तो.

सर्वथा असत् द्रव्य सर्वथा उत्पन्न नहीं हो सकता है एवं सर्वथा सत् द्रव्य का नाश नहीं हो सकता, केवल परिवर्तन हो सकता है। जैसे दीपक की प्रज्वलित अवस्था में समीपस्थ पुद्गल स्कंध प्रकाश रूप में परिणमन करते हैं एवं दीपक बुझने के पश्चात् वही प्रकाशमय पुद्गल स्कंध अंधकार (तम) रूप में परिणमित हो जाते हैं। परंतु पुद्गल स्कंधो का सर्वथा नाश नहीं होता है। गीता में भी कहा है -

'' नाऽसतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत: ।''

सर्वथा असत् का सद्भाव नहीं होता है एवं सर्वथा सत् का अभाव नहीं हो सकता है।वर्तमान भौतिक वैज्ञानिक लोगों ने भी सिद्ध किया है कि -

The substance neither be destroyed, nor be created but only the form may be interchanged.

कोई भी नवीन वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती है। कोई भी सद्भूत द्रव्य का नाश नहीं होता है, परंतु उसके आकार -प्रकार में परिवर्तन हो सकता है।

सद्धोहितं सत्यं वच: सत्यं शिवं सुन्दरम्।
सत्यं वस्तु स्वरूपं च चिदानंद मंगलम्।।

प्राणियों के लिए हितकर वचन सत्य वचन हैं। सत्य ही शिव स्वरूप है एवं सुन्दर है। सत्य ही वस्तु का स्वभाव है और सत्य ही चिदानंदमय एवं मंगल स्वरूप है।

केवल वह सत्य, सत्य नहीं है,जिससे प्राणियों का हित नहीं होता है किंतु अहित होता है। परंतु वह वचन सत्य है,जिससे प्रणियों का हित होता है। केवल सत्य वाचनिक नहीं होना चाहिए वह मानसिक एवं शारीरिक भी होना चाहिए। सत्य को छोडकर विश्व में अन्य कोई शाश्वत् वस्तु नहीं है। सत्य ही शिव (शाश्वतिक मंगल) है जो मंगल एवं शाश्वत् होता है, वही सुंदर है। यह जगत् सत्य में ही प्रतिष्ठित है क्योंकि वस्तु स्वरूप सत् स्वरूप है। चिदानंदमय मंगलमय भगवान् भी सत् स्वरूप है। "Truth is God and God is truth" सत्य ही भगवान् है एवं भगवान् ही सत्य हैं।

सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्।

प्रियं च नानृतं ब्रूयात् एष: धर्म सनातन:॥

सत्य बोलना चाहिए, प्रिय बोलना चाहिए, सत्य होते हुए भी अप्रिय नहीं बोलना चाहिए। प्रिय असत्य बचन नहीं बोलना चाहिए। यह सनातन धर्म है।

सांच बराबर तप नहीं झूठ बराबर पाप ।

जाके ह्दय सांच है ताके ह्दय आप॥

सत्य के बराबर तप नहीं है, झूठ के बराबर पाप नहीं है,जिसके ह्दय में सत्य है उसके ह्दय में भगवान् हैं।

सापेक्ष नास्ति (वस्तु स्वरूपात्मक सैद्धान्तिक)-

परम सत्य /महा सत्ता (1) जीव (2) पुद्गल (भौतिक एवं रसायन तत्त्व) (3) धर्म द्रव्य (गति माध्यम द्रव्य)(4) अधर्म द्रव्य (स्थिति माध्यम द्रव्य) (5) आकाश (6) काल की अपेक्षा से 6 अवान्तर सत्ता स्वरूप हैं। अस्तित्व आदि सामान्य गुणों की अपेक्षा छहों द्रव्य एक समान होने पर चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्तिक-अमूर्तिक आदि गुणों के कारण वे परस्पर भिन्न हैं अर्थात् एक द्रव्य अन्य द्रव्य रूप से नास्ति है। यदि ऐसा नहीं होगा तो छहों द्रव्यों का अभाव हो जायेगा; केवल एक ही द्रव्य रहेगा परंतु ऐसा न उपलब्ध है, न ही संभव है। इतना ही नहीं; द्रव्य, गुण, अवस्था आदि की दृष्टि से छहों द्रव्यों के भी संख्यात, असंख्यात, अनंतानंत भेद प्रभेद हैं। इस दृष्टि से भी एक अवान्तर द्रव्य अन्य अवान्तर द्रव्य रूप में नास्ति है। इसी प्रकार गुण, अवस्थादि रूप में भी नास्ति है। प्रकारान्तर से इसे अनेकांत, स्याद्वाद, स्व-चतुष्टय, पर- चतुष्टय, अभिन्नषट्कारक, भिन्नषट्कारक रूप से भी समझ सकते हैं। स्याद्वाद की दृष्टि से विचार करने पर -

1) **स्यात् अस्ति**- एक अपेक्षा से द्रव्य है। जैसे- रामचंद्र दशरथ की अपेक्षा पुत्र हैं।

2) **स्यात् नास्ति**- अन्य अपेक्षा से द्रव्य नहीं है। जैसे- रामचंद्र लव कुश की अपेक्षा पुत्र नहीं हैं।

3) **स्यात् अवक्तव्य** -एक साथ दो गुणों का वर्णन एक शब्द में नहीं हो सकता है अत: अवक्तव्य है। जैसे -रामचंद्र, दशरथ एवं लव कुश की अपेक्षा एक साथ क्या हो सकता है- पुत्र अथवा पिता ? इस पिता- पुत्र रूपी गुण को हम दशरथ एवं लव कुश की अपेक्षा एक शब्द में वर्णन नहीं कर सकते इसलिए अवक्तव्य अर्थात् वचन के अविषय है।

4) **स्यात् अस्ति-नास्ति** -स्व गुण की अपेक्षा एवं पर गुण की अपेक्षा जो क्रम से

वर्णन किया जाता है उस भंग को अस्ति- नास्ति भंग कहा जाता है। जेसे -रामचंद्र दशरथ की अपेक्षा पुत्र हैं, लवकुश की अपेक्षा पुत्र नहीं हैं।

5) **स्यात् अस्ति अवक्तव्य**- क्रमश: स्व गुण की अपेक्षा द्रव्य है, और युगपत् स्व पर की अपेक्षा अवक्तव्य है। जैसे- राम चंद्र दशरथ की अपेक्षा पुत्र हैं और दशरथ तथा लव कुश की अपेक्षा युगपत् अवक्तव्य हैं।

6) **स्यात् नास्ति अवक्तव्य** -क्रमश: पर गुण की अपेक्षा द्रव्य नहीं है और युगपत् स्व-पर गुण की अपेक्षा अवक्तव्य है। जैसे- रामचंद्र लव कुश की अपेक्षा पुत्र नहीं हैं और दशरथ तथा लव कुश की अपेक्षा युगपत् अवक्तव्य है।

7) **स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्य** - क्रमश: स्व धर्म की अपेक्षा वस्तु है, पर धर्म की अपेक्षा वस्तु नहीं है, युगपत् स्व-पर धर्म की अपेक्षा अवक्तव्य है। जैसे रामचंद्र दशरथ की अपेक्षा पुत्र हैं, लव कुश की अपेक्षा पुत्र नहीं हैं, दशरथ और लव कुश की अपेक्षा युगपत् कहने की अपेक्षा अवक्तव्य है।

अनेकांत भावात्मक अहिंसा है, स्याद्वाद वाचनिक अहिंसा है। अनेकांत एवं स्याद्वाद समन्वय के लिए, विश्व शांति के लिए अमृत तुल्य है।

द्रव्य में स्थित समस्त गुण, धर्म पर्यायों की सत्ता को स्वीकार करने से द्रव्यों के पूर्ण गुणादि की रक्षा होती है तथा मन में यथार्थ भाव होने के कारण भाव अहिंसा होती है। अहिंसा का अर्थ दूसरों की सत्ता को स्वीकार करना भी है। स्याद्वाद से अन्य अविवक्षित धर्मों को वचन के माध्यम से घात नहीं पहुँचाने के कारण वाचनिक अहिंसा हुई। विश्व में जो अशांति, विप्लव, युद्ध होता है उसका मूल कारण दूसरों की सत्ता को ठुकराना, अधिकार को स्वीकार नहीं करना, उनके सत्यांश को मान्यता नहीं देना है परंतु अनेकांत एवं स्याद्वाद उपरोक्त दोषों को दूर करते हैं, जिससे विश्व में समन्वय एवं शांति की स्थापना हो सकती है। दोनों सिखाते हैं कि तुम्हारा जो सत्य है, उस सत्य को बिना त्याग किये अन्य के सत्यांश को स्वीकार करो, सम्मान दो।

"Right is mine" जो सत्य है वह मेरा है, यह अनेकान्त का अमर संदेश है। परंतु "Mine is right" मेरा जो कुछ हो वह सब सत्य है मानना अनेकांत एवं स्याद्वाद की उदारनीति के विरुद्ध है। वे इस संकीर्ण स्वार्थपूर्ण हठग्राहिता को नहीं मानते हैं। अनेकांत से मनोभाव, हृदय उदार एवं विशाल हो जाता है। स्याद्वाद से वचन हित, मित, प्रिय अमृतोपम हो जाता है। अनेकांत मानसिक औषधि है एवं स्याद्वाद वाचनिक औषधि है।

उपर्युक्त सैद्धांतिक, दार्शनिक वर्णन से सिद्ध होता है कि सत्य को जानने के

लिए अस्ति के साथ-साथ नास्ति का भी महत्वपूर्ण योगदान है। शिक्षा मनोविज्ञान के अनुसार इसे विधिपरक (अस्ति) वर्णन एवं निषेधपरक (नास्ति) वर्णन कहते हैं। तर्कशास्त्र, नैतिकशास्त्र, विधिशास्त्र, आयुर्वेद, व्यवहार, मनोविज्ञान, आध्यात्मिकता आदि में भी नास्ति का महत्वपूर्ण स्थान है। यथा -

सन्तः परिक्ष्यान्तरद् भजन्ते, मूढः पर प्रत्ययनेय बुद्धिः। (कालिदास)

सन्त/गुणग्राही सज्जन तो परीक्षा करके सत्य को ग्रहण करते हैं किंतु मूढ दूसरों के अनुसार चलते हैं।

हिताहित प्राप्ति परिहार समर्थ तत् ज्ञानमेव। (तर्कशास्त्र)

हित की प्राप्ति तथा अहित का परिहार जिससे होता है वही सच्चा ज्ञान है।

कर्तव्यमेव कर्तव्यं प्राणकंठगतैरपि।

अकर्तव्यंनैव कर्तव्यं प्राणकंठगतैरपि॥

प्राणकंठगत होने पर भी कर्तव्य करना चाहिए तथा प्राणकंठगत होने पर भी अकर्तव्य नहीं करना चाहिए।

जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्य इत्यसौ तत्त्व संग्रहः।

जीव अन्य है और पुद्गल अन्य है यह अध्यात्मिक तत्त्व का सार संग्रह है। इसे ही सम्यक्दृष्टि, भेद विज्ञान, आत्मविश्लेषण, स्व-पर विज्ञान, हिताहित विवेक, क्षीर-नीर विवेक, दोष त्यजन-गुणग्रहण, सत्यग्राही ग्रहणीय, त्यजनीय आदि विशेषणों से अभिहित किया जाता है। राग, द्वेष, काम, क्रोध, मोह, माया, शरीर, कुटुम्ब, धन-वैभव, ख्याति, पूजा, प्रसिद्धि, मान-अपमान आदि को नेति-नेति (मेरा नहीं, मेरा नहीं) करते हुए जो शुद्धस्वरूप ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि आत्मिक गुण है उसे अस्ति अस्ति (मेरा है, मेरा है) रूप में प्राप्त किया जाता हैं। यदि ऐसा नास्ति/नहीं को स्वीकार नहीं किया जावे तो अस्ति (सत्य, परमात्मा) को प्राप्त नहीं किया जा सकता है जो कि प्रत्येक जीव के लिए सबसे बडा अनिष्ट, हानि, दुःखद दुर्घटना है। क्योंकि परमस्त्य/स्वात्मा की उपलब्धि से ही जीव को अनन्त अक्षय सुख-शांति, वैभव प्राप्त हो सकता है।

'नास्ति' नकारात्मक विचार -

अनादि अनन्तकालीन कुसंस्कारों के कारण जीव के भाव में मोह-माया, राग-द्वेष, ईर्ष्या-घृणा, काम-क्रोध, भय-निराशा, लोभ-तृष्णा, धन-मान-सम्मान आदि जो नकारात्मक विचार उत्पन्न होते हैं उन्हें नास्ति/निषेध करके जीव पवित्रता, सत्यनिष्ठा, उदारता, श्रेष्ठता, ज्येष्ठता, सुख-शांति, संतुष्टी, तृप्ति प्राप्त कर सकता।

हिंसा के निषेध से अहिंसा, असत्य के निषेध से सत्य, चोरी की नास्ति में अचौर्य, परिग्रह की नास्ति से अपरिग्रह आदि धर्म की उपलब्धि होती है।

'नास्ति' नास्तिक धर्म -

हिंसा, मिथ्या, संकीर्णता, क्रूरता, धोखाधडी, अंधविश्वास, कट्टरता, अन्याय, अत्याचार, शोषण, युद्ध, जीवबलि, नशीली वस्तुओं का सेवन, भेद-भाव, ऊँच-नीच आदि भाव-व्यवहार जिस संम्प्रदाय में है उसे नास्ति करके ही अहिंसा, सत्य, उदारता, सत्विश्वास आदि आस्तिक धर्म को उपलब्ध किया जाता है।

'नास्ति' अयोग्य भोजन-पानी -

जो शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक, पर्यावरणीय दृष्टि से अयोग्य भोजन-पानी यथा - माँस, अण्डा, मछली, शराब, तम्बाखू, बीडी, सिगरेट, अशुद्ध भोजन, अशुद्ध पानी आदि है उसे त्याग करके योग्य-शुद्ध शाकाहार, फलाहार, दुग्धाहार ग्रहण किया जाता है।

'नास्ति' कुसंगति -

दुष्ट, दुर्जन, फैशनी-व्यसनी, हिंसक, चोर, आतङ्कवादी आदि की संगति को त्याग करके साधु, संत, सज्जन, ज्ञानी, उपकारी, गुणी की संगति की जाती है।

'नास्ति' अयोग्य क्षेत्र, परिस्थिति आदि -

जो क्षेत्र, परिस्थिति, साधन आदि अयोग्य है उसे त्याग करके योग्य क्षेत्र, परिस्थिति, साधन आदि को स्वीकार किया जाता है।

'नास्ति' अयोग्य वचन स्वीकार तथा वचन बद्धता -

दूसरों के अयोग्य, असत्य, अहितकारी वचन को नकारना ही हितकर है। दूसरों की प्रामाणिकता को जाने बिना उन्हें स्वीकार नहीं करना भी योग्य है। निर्णय बिना दूसरों के अनुसार वचन बद्धता, कार्य योजना, दूसरों को कुछ बोलना या कुछ देना भी अयोग्य है। मेरे (आ.कनकनंदी) अनेकों अनुभव हैं कि दूसरे व्यक्ति प्रायः अप्रामाणिक, कर्तव्यहीन, अनुभवरहित, संकीर्ण स्वार्थी, अदूरदृष्टिसम्पन्न होते हैं। अतः ऐसे व्यक्ति जब कुछ बोलते हैं, अनुरोध करते हैं, कार्य योजना के लिए बताते हैं तब बिना सोच-विचार किये कुछ भी निर्णय नहीं लेना चाहिए, वचन बद्ध नहीं होना चाहिए। अनेक क्षेत्रों में अनेक बार मैंने अनुभव किया कि अनेक लोग साधु तक के लिए, यहाँ तक कि मेरे लिए भी ऐसे अयोग्य, अप्रामाणिक, उत्तरदायित्वहीन व्यवहार करते हैं। वे साधु या मेरे से भी किसी भी कार्य (पञ्चकल्याणक, विधान, विहार,

चातुर्मास व्यवस्था, कुछ लेना-देना, शिविर, संगोष्ठी, स्वाध्यायादि) के लिए साधु से वचन स्वीकार करा लेते हैं परंतु उसके अनन्तर या अपना कार्य/मतलब सिद्ध होने के बाद अपने कर्तव्य/उत्तरदायित्व से विमुख हो जाते हैं। वे साधु से 'हाँ' भरने के लिए हर प्रकार कोशिश करते हैं। साधु का 'हाँ' करना मानो शिकारी के जाल में शिकार का फँस जाना है। गृहस्थ तो अनेक बार खाता-पीता है, यान-वाहन में बैठकर यातायात करता है, विभिन्न भौतिक उपकरणों का प्रयोग करता है वह एक बार आहार ग्रहण करना, नग्न शरीर में नग्न पैर में विहार, भौतिक साधनों का प्रयोग नहीं करने वाले जैन साधु का अनुभव कैसे कर सकता है? इसलिए गृहस्थों के अनुसार साधुओं को कार्य नहीं करना चाहिए। भारतीय साहित्यों से ज्ञात होता है कि पहले जो राजा-महाराजा वर प्रदान करते थे/दूसरे अयोग्य व्यक्तियों के लिए वचन बद्ध होते थे उससे कितने अनर्थ होते थे। उदाहरण के लिए दशरथ का वर प्रदान, सत्यवादी हरिशचंद्र की प्रतिज्ञा, भीष्म की प्रतिज्ञा आदि। अभी भी अनेक साधु तक को अनेक बार अनेक समस्याओं को सहन करना पडता है जब वे बिना योग्य निर्णय लिए दूसरों के अनुसार 'हाँ'/निर्णय/कार्य करते हैं।

'नास्ति' अयोग्य को उपदेश -

सीख ताको दीजिए जाको सीख सुहाय।
सीख दीजीयो बान्दरा घर बया का जाय॥
सतगुरु देय जगाय मोह नींद जब उपशमे।
तब कछु बने उपाय कर्मचोर आवत रुके॥
मूर्खानां हि उपदेश विपत्तिनां पदे-पदे।

उपर्युक्त अनुभव जन्य नीति वाक्यों से यह निष्कर्ष निकलता है कि जो अपात्र, कुपात्र, दुर्जन, क्रूर, निष्ठुर हैं, उन्हें उपदेश नहीं देना चाहिए, उच्च अनुभव नहीं बताना चाहिए। उससे तो उसका उपकार नहीं होगा परंतु वह उसका दुरुपयोग करेगा। इतना ही नहीं, उपदेश कर्ता को वे मूर्ख मानते हैं, उन्हें शत्रु मानकर उनसे दुर्व्यवहार करते हैं क्योंकि 'गतानुगतिको लोको न लोकः परमार्थिकः।'

'नास्ति' पीडा प्रगट -

रहिमन निज मन की व्यथा मन ही राखो गोय।
सुनी इठलाइ है लोग सब बाँटे न लेय कोय॥

अपनी मन की पीडा गुरु, गुणी, परदुःख कातर, सहृदय, परोपकारी, सेवाभावी सज्जनों को बताने से पीडा कम होती है, उनसे सहयोग मिलता है परंतु दुष्ट, दुर्जन,

ईर्ष्यालु, परदुःख से प्रसन्न होने वालों को बताने से वे उसका अनैतिक लाभ उठाते हैं, पीडित को और भी पीडित करते हैं, उनका मजाक उडाते हैं। उपर्युक्त वर्णन से सिद्ध होता है कि वस्तुस्वरूप, आध्यात्मिकता, प्रतिपादन की पद्धति से लेकर लौकिक व्यवहार तक में जिस प्रकार सत्य/अस्ति का महत्व है, उसी प्रकार नास्ति/नहीं का भी महत्व है। परंतु नास्ति का प्रयोग सदा-सर्वदा, सर्वत्र सावधानी से अस्ति/सत्य (समता, सुख, न्याय, व्यवस्थादि) को प्राप्त करने के लिए ही करना चाहिए न कि असत्य, विषमता, दुःख, अन्याय, अव्यवस्था के लिए करना चाहिए। यथा -

न मे मृत्युः कुतो भीतिर्न मे व्याधिः कुतो व्यथा।
नाहं बालो न वृद्धोऽहं न युवैतानि पुद्गले ॥
न बन्धो न मोक्षो न रागादिदोषः न योगो न भोगो न व्याधिर्न शोकः।
न कोपो न मानो न माया न लोभः, चिदानन्दरूपं नमो वीतरागम्॥

6वीं अन्तर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक संगोष्ठी 2004 (तेरह पंथी भवन–उदयपुर) में धर्मदर्शन विज्ञान शोध संस्थान (2) धर्मदर्शन सेवा संस्थान के कार्यकर्ताओं से विचार–विमर्श करते हुए आ. कनकनन्दी गुरूदेव

विश्व विद्यालय की पुस्तक में जैनधर्म संबंधी भ्रांतियाँ एवं संशोधन

एस. चंद्र ॲण्ड कंपनी लि. द्वारा प्रकाशित श्री वी. डी. महाजन द्वारा लिखित हिंदी पुस्तक-प्राचीन भारत का इतिहास (20 वाँ संस्करण) पुन: मुद्रित - 2000 ई. में पृष्ठ 144 पर अध्याय 14 जैन धर्म के शीर्षक से है। इस अध्याय में जैन धर्म संबंधी जो विवरण दिया गया है उसमें अनेक अशुद्धियाँ एवं विसंगतियाँ हैं। भगवान् महावीर का विवरण अपमान जनक शब्दों में छापा है। सम्भवत: यह कार्य प्रमादवश हुआ है और 60-70 वर्ष पूर्व की छपी संदर्भ पुस्तकों को आधार मानने के कारण भी।

अशुद्धियों के कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं -

1) पार्श्वनाथ या महावीर के शिष्य **गंधार या गणधार** नहीं, अपितु **गणधर** थे।

2) जैन साधुओं को **भिक्षु या भिक्षुणी** न कहकर **साधु, मुनि, साध्वी** कहते हैं भिक्षु या भिक्षुणी बौद्ध धर्म के शब्द हैं।

3) महावीर का जन्मस्थान कुंडलपुर स्वीकृत है अत: वैशाली के उपनगर के साथ (कुंडपुर) **कुंडलपुर** देना ठीक रहेगा।

4) बिंबसार की पत्नी **चेल्लन** का सही नाम **चेलना** है।

5) महावीर के जन्म तिथि में अब विवाद नहीं है। ईसा पूर्व 599 उनकी जन्म तिथि वर्ष और ईसा पूर्व 527 उनका निर्वाण वर्ष स्वीकृत है ये दोनों तिथियाँ इस अध्याय में देनी चाहिए।

6) पृ. 145 के अंतिम पैराग्राफ एवं पृ. 146 का प्रथम पैरा को आदर पूर्वक लिखा जाना चाहिए। यथा - **वह सन्यांसी बन गया** के स्थानपर **वे साधु बन गए। 12 वर्ष तक वह भ्रमण करता रहा** के स्थानपर - **वे 12 वर्ष तक भ्रमण करते हुए तपस्या करते रहे** आदि पूरा पैराग्राफ में सुधार अपेक्षित है।

7) यहाँ श्वेताम्बर और दिगम्बर मान्यता का उल्लेख भी महावीर के विवाह के सम्बन्ध में अपेक्षित है।

8) **अचरंगसूत्र** के स्थान पर **आचारांग सूत्र** छपना चाहिए।

9) पार्श्वनाथ के समय में श्वेताम्बर-दिगम्बर मत नहीं थे। इनका प्रारम्भ ई. प्रथम सदी से माना जाता है। अत: पार्श्वनाथ के पैराग्राफ (पृष्ठ 146) के अन्त की तीन पंक्तियाँ हटानी चाहिए।

10) **महावीर की शिक्षाएँ नामक पैराग्राफ भी आदर पूर्वक शब्दों में लिखा जाना चाहिए।**

11) इस पैरा में **शरीर को यातनाएँ दी जानी चाहिए** के स्थान पर **यातनाएँ सहन करना चाहिए** लिखना है।

12) **आत्महत्या स्वीकार्य थी,** एकदम गलत है इसका सही शब्द है कि **समाधिमरण की साधना** की जाती है।

13) जैन धर्म के सभी अनुयायियों को नग्न रहने का आदेश नहीं है। श्रावक वस्त्र पहनते हैं। अत: यहाँ संशोधन कर लिखना है कि - जैन साधुओं को नग्न रहने का उपदेश दिया गया है।

14) पृष्ठ 147 पर **सिद्धशील** को प्राप्त के स्थानपर **सिद्धशिला (मोक्ष) को प्राप्त** पंक्ति लिखनी है।

15) **नतपुत्त** के स्थान पर **नातपुत्त (नाथपुत्त)** छपना है।

16) पृष्ठ 148 के दूसरे पैराग्राफ में **गणधार** के स्थान पर **गणधर** छपना है।

17) इसी पैरा में जो आनन्द, कामदेव आदि आठ गणधरों के नाम दिए है, वे गणधर नहीं है। ये नाम महावीर के गृहस्थ श्रावकों के हैं। महावीर के ग्यारह गणधरों के नाम इस प्रकार है - 1) इंद्रभूति गौतम 2) अग्निभूति 3) वायुभूति 4) आर्यव्यक्त 5) आर्य सुधर्मा 6) मंडित 7) मौर्यपुत्र 8) अङ्कपित 9) अचलभ्राता 10) मेतार्य 11) प्रभास। यही नाम पुस्तक में छपना चाहिए।

18) आचार्य **जैन मंदिर के प्रमुख नहीं** बनते थे, वे **जैन संघ के प्रमुख** होते थे।

19) जैन आचार्य **गद्दी पर नहीं बैठते थे,** वे केवल **जैन संघ के प्रमुख बना दिए जाते थे**।

20) राजा **खरबेल** के स्थान पर राजा **खारबेल** छापना है।

21) चन्द्रगुप्त ने **भूखे रहकर नहीं,** अपितु **उपवास पूर्वक प्राणों का अन्त** नहीं, अपितु **समाधि मरण प्राप्त** किया लिखना है।

22) **जैन सिद्धान्तों का नाश** नहीं अपितु **जैन ग्रंथों का** लिखना है। (148 पृष्ठ अतिंम पैरा) इसी प्रकार आवश्यक कतिपय अन्य शब्दों का संशोधन इस अध्याय में अपेक्षित है।

शिक्षा एक सर्वश्रेष्ठ माध्यम है; जिससे व्यक्ति, समाज, राष्ट्र सुसंस्कृत, सशक्त, संगठित, प्रगतिशील, समुन्नत बनते हैं परंतु शिक्षा की विकृति से व्यक्ति,समाज, राष्ट्र,अपसंस्कृत, दुर्बल,विघठित, विनाशक बनते हैं। यदि लेखक तथा प्रकाशक उपर्युक्त गलतियों का संशोधन नहीं करते है तो वे उपर्युक्त दोषों के भागी होगें। अनजान

से गलती होना ज्यादा अपराध नहीं है परंतु गलतियों को जताने-बताने पर भी यदि हठग्राहिता से स्वीकार नहीं करते हैं तथा संशोधन नहीं करते हैं तो घोर अपराध है। अतएव इस जानकारी से लेखक एवं प्रकाशक को भूल शोधन करके नवीन संस्करण में ''जैन धर्म'' अध्याय को प्रकाशित करके महान् भारत की नई पीढी को यथार्थ ज्ञान देकर उन्हें उपकृत करेगें तथा जैन धर्मावलंबी एवं सत्य-जिज्ञासु महानुभावों की पवित्र भावनाओं का समादर करेगें। अन्यथा जैन धर्मावलंबी तथा सत्यग्राही महानुभव विवश होकर यथायोग्य साम-दाम-दंड-भेदात्मक कार्यवाही करेगें जिसके उत्तरदायी लेखक एवं प्रकाशक होंगे।

-: अमृतानुभव :-

जिस प्रकार प्रबल जल-स्त्रोत में घास-फूस-लकडी बहती है उसी प्रकार प्रबल मोह-कषाय-संज्ञा रूपी प्रबल स्त्रोत में जीव विवश होकर बहता रहता है।

कैलाश चन्द्र 'मानव' (नारायण सेवा संस्थान) को
स्व–चरित साहित्य प्रदान करते हुए आ. कनकनन्दी गुरूदेव (उदयपुर)

हमारी संतान हमसे बेहतर कैसे हो ?

हमारी दृष्टि से शिक्षा विकसित हुई है। शिक्षा के क्षेत्र में, शिक्षाक्रम में पूर्ण परिवर्तन किया गया है। पाठ्यपुस्तकें जीवनोपयोगी बनाई गई हैं। इतना ही नहीं शिक्षा के क्षेत्र में समुदाय को भी जोडा गया। अभिभावकों को प्रेरित किया गया है कि वे अपनी पीढी को संस्कारित बनाएँ। यह उद्गार डॉ. शरदचंद्र पुरोहित ने आ. श्री कनकनंदी जी गुरुदेव के समक्ष प्रकट किये।

आ. श्री कनकनंदी जी महाराज ने शिक्षा में कैसे जागरुकता लायी जाए, भावी पीढी को कैसे संस्कारित किया जाए - इस पर राजस्थान राज्य शैक्षणिक अनुसंधान प्रशिक्षण संस्थान, उदयपुर के निर्देशक महोदय डॉ. श्री शरदचंद्र पुरोहित से विचार विमर्श किया। निर्देशक महोदय ने प्राथमिक स्तर एवं उच्च प्राथमिक स्तर के शिक्षाक्रम में जो परिवर्तन किया है तथा पाठ्यपुस्तकें पूर्णरूपेण दक्षता पर आधारित एवं जीवनोपयोगी विषयवस्तु के बारे में बताया तथा हमारी पीढी को कैसे बेहतर बनाएँ इसके लिए अभिभावकों, शिक्षकों एवं विद्यार्थियों को संकल्प दिलाने हेतु प्रेरित करना एवं उनकी प्रगति को कैसे जाना जाए - इस विषय पर चर्चा की गई।

आ. श्री ने कहा कि हम भी इसके लिए प्रेरित कर रहे हैं के आने वाली पीढी सुसंस्कारित, आज्ञाकारी, चारित्रवान्, मेहनती, कर्तव्यनिष्ठ, धैर्यशील, सहनशील, प्रगतिशील, वैज्ञानिक, आधुनिकता से युक्त हो। अपनी पीढी को सुधारना सभी चाहते हैं परंतु उसके लिए प्रयास नहीं करते हैं। अभिभावक बालक-बालिकाओं के प्रति जागरुक नहीं हैं। उनको संस्कारित नहीं करते हैं। इसके लिए हमें प्रयास करने होंगे तथा संकल्प दिलाने होंगे कि बालकों में व्यसन की प्रवृत्ति न हो, आज्ञाकारी, कर्तव्यनिष्ठ, मेहनती, धैर्यशील, सहनशील हो। पाठ्यपुस्तकों में विषयवस्तु भी नैतिक मूल्यों, वैज्ञानिक सत्य-तथ्य एवं भारतीय सांस्कृतिक धरोहर पर ही आधारित हो।

नैतिक विकास के बिना आधुनिकता, फैशन तथा व्यसन मुक्ति, अश्लीलता का निरसन नहीं हो सकता है। संकीर्ण सोच को दूर करना है। हम पर्यावरण से जुडे हैं परंतु पशु क्रूरता की मानसिकता कैसे दूर करे कि आध्यात्मिक पर्यावरण की स्थिति बनी रहे इस सोच को विकसित करना है।

संस्थान के निर्देशक महोदय ने यह भी कहा कि दृढ संकल्प के द्वारा नैतिक मूल्यों का विकास किया जा सकता है। शिक्षा क्रम जो तैयार किया गया है उसमें शिक्षा विदों, वन विभाग, पुलिस विभाग, पञ्च-सरपञ्च, प्रधान, न्यायालय, कृषक,

वैज्ञानिक, ग्रामीण जनता, सभी सरकारी तंत्र व्यवस्था के अधिकारियों के विचारों का समावेश किया गया। यही नहीं बेणेश्वर के महंत श्री सच्चिदानंद महाराज से भी बेणेश्वर की पूरी जानकारी ली गयी तथा उसे पाठ्यपुस्तकों में शामिल किया गया। खेती की जानकारी के लिए किसानों से चर्चा की गई।

शिक्षकों, अभिभावकों, सर्व समुदाय, बालक-बालिकाओं में क्रांतिकारी परिवर्तन लाना है। संकल्प दिलाना है कि हमारी पीढी हमारे से बेहतर हो। विद्यार्थियों, भारतीयों तथा विश्व में सत्य, समता, शांति, सह अस्तित्व, सहनशीलता, प्रगतिशीलता, समन्वय, समयानुबद्धता, अनुशासन, सेवा, स्वावलंबन का प्रचार-प्रसार हो एतदर्थ आ. श्री ससंघ प्रयास रत है। आ. श्री साहित्य लेखन के साथ-साथ विभिन्न शोधपूर्ण आलेख लेखन, शिविर, संगोष्ठी, प्रतियोगिताओं का आयोजन कर रहे हैं। इसका और अधिक ठोस प्रायोगिक धरातल पर प्रचार-प्रसार करने के लिए शिक्षा अनुसंधान केंद्र के निर्देशक आदि से संपर्क करके शिक्षा को आधुनिक, नैतिक, व्यापक बनाने के लिए प्रयास रत है। इसी प्रकार धर्म को विदेशों के विश्वविद्यालयों में, वैज्ञानिक जगत् में तथा वहाँ के अप्रवासी भारतीयों एवं वहाँ के स्थानीय नागरिकों के समक्ष प्रस्तुती करने के लिए प्रो. जगमोहन जी हुम्मड, कॅनेडा, प्रद्युम्न एस. झवेरी, अमेरिका के सहयोग से तथा ''धर्म दर्शन विज्ञान शोध संस्थान'' ''धर्म दर्शन सेवा संस्थान'' के कार्यकर्ताओं के तत्त्वावधान में आ. श्री उपर्युक्त कार्य कर रहे हैं। भारत में भी गायत्री परिवार, संघ परिवार, वि.हि.प., गौरक्षा, स्वदेशी बचाओं अंदोलन, हृदय परिवर्तन आंदोलन तथा आचार्य महाप्रज्ञ जी के सहयोग से विभिन्न कार्यों का आयोजन हो रहा है।यह संपूर्ण कार्य संकीर्ण पंथवाद- मतवाद, राष्ट्रवाद से रहित वैज्ञानिक, व्यापक, उदार दृष्टिकोण से ''सर्वजन हिताय सर्वजन सुखाय'' के उद्देश्य से हो रहा है।

प्रस्तुति श्रीमती निर्मला जैन
व्या. रसायन शास्त्र रा.रा. शै. अनुसंधान
एवं प्रशिक्षण संस्थान, उदयपुर (राज.)

संस्कृति

भारत के पश्चाश्चर्य

भारत की महानता के पञ्च आयाम

1) भारतीय महापुरुष महान् -

प्रत्येक समाज, राष्ट्र के उन्नायक उस समाज के, राष्ट्र के महापुरुष होते हैं। इतना ही नहीं विश्व की समस्त सभ्यता, संस्कृति, भाषा, विज्ञान, कला, पर्व, परम्परा, रीति-रिवाज का शोध-बोध, प्रचार-प्रसार महापुरुषों से ही होता है । संक्षिप्तत: इसे हम कह सकते हैं महापुरुष रूपी धुरी से विश्व संस्कृति, सभ्यता, परम्परा आदि गतिशील है। जिस प्रकार धुरी टूट जाने पर चक्र स्थिर हो जाएगा, चक्र स्थिर होने पर यान, वाहन स्थिर हो जाएगा, उसी प्रकार महापुरुष के अभाव से समाज, राष्ट्र, विश्व की प्रगति रुक जाएगी। देश-विदेश के विभिन्न विधाओं के साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि भारत में जिस प्रकार विभिन्न विधाओं के उच्च कोटि के महापुरुष हुए हैं अन्य किसी भी देश में ऐसे महापुरुष नहीं हुए हैं। भारत में आध्यात्मिक, ज्ञान, विज्ञान, गणित, आयुर्वेद, न्याय, राजनीति, अर्थशास्त्र,नीतिशास्त्र, समाजव्यवस्था, भविष्य विज्ञान, प्राणी विज्ञान, रसायनशास्त्र, भौतिकशास्त्र, शिल्पकला, भाषा, व्याकरण, मनोविज्ञान, वास्तुशास्त्र, धातुशास्त्र, पाकशास्त्र(भोजन कला), गाना, नृत्य, संगीत, नाटक, युद्ध कला से लेकर कामशास्त्र तक का शोध-बोध हमारे भारत के महापुरुषों ने किया हैं। इसलिए भारतीय महापुरुषों को किसी भी एक सीमा में हम बाँध नहीं सकते हैं जैसा कि मुख्यत: आधुनिक वैज्ञानिकों की सीमा को भौतिक में बाँध सकते हैं। इसके कारण प्राचीन काल में आध्यात्मिक से लेकर ज्ञान, विज्ञान, शिक्षा, संस्कृति, राजनीति एवं समाज की दृष्टि से महान् होने के कारण विश्व गुरु कहलाया। जिस समय (ईसा पूर्व) में अनेक पूर्व एवं पश्चिम के देश अंधकाराच्छन्न अर्थात् ज्ञान-विज्ञान, सभ्यता, संस्कृति से अनभिज्ञ थे उस समय में भारत में नालन्दा, विक्रमशिला, तक्षशिला, वल्लभी आदि विश्व विद्यालयों में 60-70 विषयों का अध्ययन होता था। इतना ही नहीं तिब्बत, चीन से लेकर ग्रीक, ईरान के विद्यार्थी, शोधार्थी आकर हमारे यहाँ अध्ययन करते थे। परन्तु अत्यन्त खेद का विषय यह है कि आज भारत को स्वतंत्र हुए 58 वर्ष होने के बाद भी भारत के लोग हमारे पूर्वज महापुरुषों को तथा उनके सिद्धान्तों को न सही रूप में जानते हैं, न मानते हैं, न आदर करते हैं जब तक कि विदेश के लोग उन्हें मान्यता नहीं देते हैं। इतना ही नहीं जो भारतीय लोग भारतीय महापुरुषों के

सिद्धान्तों को मानते हैं, अपनाते हैं उन्हें भी Out of Date, पिछडे लोग, गवाँर मानते हैं और उनसे घृणा करते हैं, उनका अपमान करते हैं। इतना ही नहीं भारत के लोग महापुरुषों की महानता को भी जाति, मत, पंथ, परम्परा, पूजा, आराधना, भाषा, राजनीति आदि की संकीर्णता से कैद कर डाले हैं। इन सब कारणों से भी भारत मूल से कटे हुए वृक्ष के जैसे पल्लवित व पुष्पित नहीं हो पा रहा है।

2) भारतीय आध्यात्मिक, ज्ञान-विज्ञान, संस्कृति, संस्कार, सभ्यता महान् :-

हमारे महापुरुष महान् होने के कारण उनके द्वारा शोध-बोध, प्रचार-प्रसार किया गया आध्यात्मिक, ज्ञान-विज्ञान, संस्कृति, संस्कार, सभ्यता महान् होना स्वाभाविक है। क्योंकि महापुरुषों के भाव, वचन, व्यवहार आदि भी महान् ही होते हैं। इसलिए भारत में भौतिकता में आध्यात्मिकता है, अर्थ में भी परमार्थ निहित है, व्यक्ति में समाज समाहित है तो समाज में व्यक्ति समाहित है, भोग भी त्याग से सहित है तो युद्ध भी धर्म से युक्त है। इसलिए भारत में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूपी चार प्रकार के पुरुषार्थ हैं। राजनीति में भी धर्म से युक्त अर्थ एवं नीति से युक्त राजनीति होती है। इसलिए प्राचीन राजनीति शास्त्र में कहा है- **''धर्मार्थकाम मूलानि राज्याय नमः''** अर्थात् राज्य का मूल धर्म से युक्त अर्थ स्वरूप है। इसलिए भारतीय आध्यात्मिक (धर्म) और विज्ञान से लेकर कला, भाषा, पर्व, रीति-रिवाज, परम्परा परस्पर अनुसृत है, संयुक्त है, एक दूसरे से प्रभावित है। जिस प्रकार वृक्ष की जड द्वारा प्राप्त खाद, पानी सम्पूर्ण शाखा, प्रशाखा,फूल-पत्ती और फल आदि में व्याप्त होता है, उसे पोषक तत्त्व प्रदान करता है उसी प्रकार भारतीय सम्पूर्ण कार्य आध्यात्मिकता से ओत-प्रोत हैं, ऊर्जावान् हैं। इसलिए भारत को आध्यात्मिक प्रधान (धर्म प्रधान) देश कहा गया है। इसलिए भारतीय संस्कृति में केवल मनुष्य के साथ ही सद्व्यवहार करने का पाठ नहीं पढाया जाता है परन्तु जलकायिक, पृथ्वीकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक, कीट, पतंग, पशु-पक्षी आदि सम्पूर्ण चराचर के जीवों के साथ-साथ प्राकृतिक शक्ति आदि के साथ सद्व्यवहार करने का पाठ पढाया जाता है। भारतीय संस्कृति में प्रत्येक जीव को भगवान् का स्वरूप माना जाता है और सर्व जीवों के कल्याण की भावना की जाती है। यथा :-

सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु, सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चित् दुःख माप्नुयात्॥

सम्पूर्ण जीव जगत् सुखी, निरोगी, भद्र, विनयी, सदाचारी रहें । कोई भी

कभी भी थोडे भी दुःख को प्राप्त न करें।

शिवमस्तु सर्वजगतः परहित निरता भवन्तु भूतगणाः।
दोषा प्रयान्तु नाशं, सर्वत्र सुखी भवतु लोकः ॥

सम्पूर्ण विश्व मंगलमय हो, जीव समूह परहित में निरत रहें, सम्पूर्ण दोष विनाश को प्राप्त हो जावे, लोक में सदा सर्वदा सम्पूर्ण प्रकार से सुख रहे।

मा कार्षित् कोऽपि पापानि, मा च भूत कोपि दुःखितः।
मुच्यतां जगदप्येषां, मति मैत्री निगद्यते ।।

कोई भी पाप कार्य न करे, कोई भी दुःखी न रहे, जगत् दुःख, कष्ट, वैरत्व से रहित हो जावे। इसी प्रकार की भावना को मैत्री भावना कहते हैं। ऐसी महान् आध्यात्मिकता, संस्कृति आदि को भारत के लोग न जानते हैं, न जानना चाहते हैं, न मानते हैं। इतना ही नहीं उसे कोई तो विकृत करते हैं, तो कोई विकृत रूप से अपनाते हैं। विदेश के लोग सही मानने पर तथा अपनाने पर उसे फैशन रूप से, स्टेटस् सिम्बल रूप से, दिखावे के रूप से मानते हैं, अपनाते हैं। यथा - योग को योगा रूप से, प्राकृतिक प्रसाधन सामग्री को हर्बल रूप से, प्रेम-संगठन-सामाजिकता को किट्टी पार्टी, नाईट क्लब, बॉय या गर्ल फ्रेंड रूप से आदि-आदि। विदेश के लोग जब हमारी संस्कृति आदि से प्रेरित होकर यहाँ आते हैं और यहाँ पर अपसंस्कृति आदि को देखते हैं तब उन्हें निराशा होती है।

3) भारतीय भाषा, कला, स्थापत्य, संगीत, नृत्यादि महान्

उपर्युक्त भारतीय महान् संस्कृति आदि को अभिव्यक्त करने के लिए तथा प्रचार-प्रसार करने के लिए जो माध्यम स्वरूप भाषा, कला, स्थापत्य, संगीत, नृत्यादि है वह भी महान् है। क्योंकि वाच्य के अनुसार वाचक, बिम्ब के अनुसार प्रतिबिम्ब होता है। भारतीय संस्कृत, प्राकृत, पाली आदि भाषायें तथा उसके व्याकरण, व्युत्पत्ति, शब्दशक्ति, अभिव्यंजना, अलंकार आदि में गंभीरता, व्यापकता, मधुरता, संक्षिप्तता, वैज्ञानिकता है वह श्रेष्ठता से सहित है। इसी प्रकार चित्रकला, मूर्तिकला, मन्दिर निर्माण, स्थापत्यकला आदि में भी जीवन्तता प्रगट होती है तथा नवरस की धारा बहती है। शास्त्रीय संगीत, देशी-संगीत, ओडीसी नृत्य, भरतनाट्यम्, नाटक आदि में मानो प्राचीन इतिहास जीवन्त हो उठते हैं, और श्रोता, दर्शक आदि को भी ऊर्जावान बनाते हैं। इससे मन शान्त तथा प्रसन्न होता है, शारीरिक-मानसिक रोग दूर होते हैं। इसमें इतनी शक्ति थी कि दीपक राग से दीपक जल उठते थे तो मेघ मल्हार से वर्षा होती थी, बैजूबावरा के संगीत को तो अहिंसक एवं हिंसक पशु भी शांति से एक साथ मिलकर

सुनते थे। परंतु दु:खद विषय यह है कि आज भारत के लोग चित्र के नाम पर कार्टून , संगीत के नाम पर कान फोड तथा रोग कारक पॉप (पाप=Sin) गाना, नृत्य के नाम पर विक्षुब्ध पागल या मेंढक के जैसे कूदना-फाँदना, संगीत के नाम पर हीरो-हीरोइन (नट-नटी) के अश्लील, भोंडा, रस हीन, अर्थ विहीन, शिक्षा-आदर्श रहित संगीत सुनना, नाटक के नाम पर उपर्युक्त नट-नटिओं का अश्लील, हिंसा, चोरी, बलात्कार आदि से युक्त सिनेमा, टी.वी. प्रोग्राम देखना ही नसीब है, दुर्भाग्य से प्राप्त होता है, दुर्भाग्य से प्राप्त किया जाता है।

4) भारतीय भोजन महान् :-

शरीर धारण, पालन, पोषण स्वास्थ्य सम्पादन के साथ-साथ मानसिक आध्यात्मिक निरोगता, पुरुषार्थ की साधना पर्यावरण की सुरक्षा, अहिंसा की रक्षा को दृष्टि में रखते हुए भारतीय भोजन की व्यवस्था है। एतदर्थ शुध्द, मर्यादित , सात्विक शाकाहार, फलाहार, दुग्धाहार को स्वीकार किया गया है। अन्य देशों के भोजन से भारतीय भोजन केवल उपर्युक्त विशेषणों से युक्त नहीं परन्तु विभिन्न पोषक तत्व,विविधता, विभिन्न रसों से भी युक्त है। भारत में जितने प्रकार के स्वास्थ्य प्रद, रसकारक, जायकेदार मसाला, घी, दूध दही, छेना, छाछ मिष्ठान्न- आदि का प्रयोग भोजन में होता है ऐसा अन्यत्र कहाँ भी नहीं है। अति प्रचीन काल में भारतीय लोग इन मसाला आदि का निर्यात सुदूर विदेशों में करते थे। इसके स्वाद, सुगन्धी, गुणों से आकर्षित होकर भी विदेश के लोगों ने भारत के ऊपर आक्रमण किया। घी आदि शब्दों का प्रयोग भी अंग्रेजी आदि भाषा में नहीं है। क्योंकि वहाँ के लोग घी बनाना जानते नहीं हैं। अभी भी विदेशों में भारतीय -भोजन, व्यंजन, मिष्ठान्न यहाँ तक कि कढी का भी चाव से प्रयोग किया जाता है । इसका व्यापार करके भारत के लोग विदेश में धनी बन रहे हैं । वैज्ञानिक अनुसन्धान से सिध्द हो गया कि उपर्युक्त भोजन श्रेष्ठ है । परंतु अभी भारतीय लोग अशुध्द रस हीन, सत्व रहित, हिंसात्मक, अस्वास्थकारी, सडा, गला बासी गंदा विदेशी भोजन, बाजारू भोजन होटल-ठेला-फेरी का भोजन डिब्बा बन्द रेडीमेड फास्ट फूड खाने में तथा पेप्सी, कोकाकोला ,शराब, विदेशी शराब, नशीली वस्तु सेवन करने में स्वयं को शान-मान फारवार्ड आधुनिक, शिक्षित, धनी मानते हैं । इससे अनेक शारीरिक, मानसिक रोगों से संत्रस्त हो रहे हैं, आर्थिक हानि भी उठा रहे हैं ।

5) भारतीय समाजिक संरचना महान् -

''वसुधैव कुटुम्बकम्'' का पाठ पढाने वाली भारतीय संस्कृति किस

प्रकार सामाजिक संरचना का अध्याय नहीं पढाएगी? अर्थात् अवश्य पढाती है। **'आत्मन:प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।' 'परस्परोपग्रह जीवानाम्'** रूपी महान् सिध्दान्त जो भारत के महापुरूषों ने दिये उनमें पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, वैश्विक समरसता एवं व्यवस्थाओं के सम्पूर्ण रहस्य समाहित हैं। इन सूत्रों का रहस्य यह है कि दूसरों के प्रति ऐसा कोई भी व्यवहार मत करो जो तुम्हारे लिए योग्य नहीं है तथा एक दूसरों का उपकार करते हुए जीओ।

भाारतीय समाज/संस्कृति/परम्परा में मानव जीवन में 1) ब्रह्मचर्य (विद्यार्थी) 2) गृहस्थ 3) वानप्रस्थ 4) यतिव्रत रूपी चार आश्रमों के द्वारा 1) धर्म 2) अर्थ 3) काम 4) मोक्ष रूपी पुरुषाार्थों की सिद्धि की जाती है। आश्रम (आ+श्रम = आ समन्तात् श्रमं करोतीति आश्रम:) अर्थात् समग्रता से श्रम करने को आश्रम कहते हैं। जीवन की प्रथम अवस्था 25 वर्ष तक ब्रह्मचर्य के द्वारा विद्या अध्ययन में, द्वितीय अवस्था 25 से 50 वर्ष पारिवारिक व्यवस्था में, तृतीय अवस्था (50 से 75 वर्ष) आत्म कल्याण के साथ-साथ समाज/राष्ट्र सेवा में तथा चतुर्थ अवस्था (75 से 100 वर्ष) आत्म कल्याण में नियोजित किया जाता है। (जब जीवन 100 वर्ष का हो तब)। चतुर्थ अवस्था मुख्यत: धर्म प्रधान होने पर भी पूर्व की तीनों अवस्था में भी धर्म अनुश्रुत होता है। अर्थात् चारों आश्रम धर्म से युक्त हैं तो चारों पुरुषार्थ भी धर्म से युक्त हैं। संक्षिप्तत: भारतीय समाज व्यवस्था की यह ही नीति है, यह ही विशिष्टता है और यह ही महानता है। विवाह भी **''यति जनायितु''** अर्थात् यति/मुनि को जन्म देने के लिए विवाह है । अर्थात् चारों आश्रम एवं चारों पुरूषार्थ में मोक्षमार्ग/मोक्ष को लक्ष्य में रखकर कहा गया है । यहाँ तक कि विवाह भी केवल भोग के लिए नहीं है योगी को जन्म देने के लिए है। इसलिए तो **''तद्धर्म रागिणां श्रावकाणां''** अर्थात् मुनि धर्म रागी श्रावक/गृहस्थाश्रमी होते हैं। जैन धर्मानुसार 1) मुनि 2) आर्यिका (साध्वी) 3) श्रावक (सद्गृहस्थाश्रमी) 4) श्राविका (सद् गृहस्थमहिला) रूपी चतुर्विध संघ होता है जिससे समाज में चारों पुरूषार्थ एवं चारों आश्रमों का समन्वय हो। जिससे समाज का सर्वांगीण विकास हो। महात्माबुध्द ने भी **''संघं सरणं गच्छामि'' ''धम्मो सरणं गच्छामि'' ''बुध्दं सरणं गच्छामि''** कहकर उपर्युक्त विषयों का प्रतिपादन प्रकारान्तर से किया है। वेद में भी कहा है -

सं गच्छध्वं सं वदध्वं, सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥ (10/191/2) **ऋग्वेद**

मिलकर चलो, मिलकर बोलो, मिलकर सब एक दूसरे के विचारों को

जानो। जैसे कि प्रचीनकाल के देव (दिव्य व्यक्ति, ज्ञानीजन) अपने प्राप्त कर्त्तव्य कर्म मिलकर करते थे, वैसे ही तुम भी मिलकर अपने प्राप्त कर्त्तव्य करते रहो।

समानो मन्त्रः समिति समानी ।
समानं मनः सह चित्तमेषाम्॥ (10/191/3)

आप सब का विचार समान (एकसा) हो, आप सब की सभा समान हो। आप सब का मन समान हो और इन सबका चित्त भी आप सब के साथ समान (समभाव सहित) हो।

समानीव आकूतिः समानां हृदयानि वः।
समानमस्तुवो मनो यथा वः सुसहासति ॥ (10/191/4)

आप सबका संकल्प एक हो, आप सब के अंतःकरण एक हो। आप सबका मन(चिंतन) समान हो, ताकि आप सब अच्छी प्रकार मिल जुलकर एक साथ कार्य करें।

विद्यार्थी अवस्था में गुरुकुल में गुरु शिष्यों का आत्मीय सम्बन्ध है तो गृहस्थ एवं समाज में जन्म-मरण-विवाह, सुख-दुःख, आपत्ति-विपत्ति, पर्व-त्यौहार, रीति-रिवाज, पूजा-महोत्सव यात्रा आदि में सहभागी, सहयोगी बनना है। वानप्रस्थ (व्रती, ब्रह्मचारी, क्षुल्लक, ऐल्लक) तथा यतिव्रत में भी परस्पर सहभागी, सहयोगी बनने के साथ-साथ पूर्वोक्त दोनों आश्रमों से भी धार्मिक संबन्ध, सहयोग होता है। गृहस्थों में माता-पिता, भाई-बहन, चाचा-चाची, दादा-दादी, नाना-नानी से लेकर मित्र, पडोसी, समाज आदि का भी मधुर तथा सहयोगात्मक संबन्ध होता है। परंतु ऐसी उत्कृष्ट समाज व्यवस्था, संरचना को भारतीय लोग भूलकर विघटित परिवार, संकीर्ण स्वार्थ परता, पाश्चात्य सामाजिक अन्धानुकरण कर रहे हैं। माता को मम्मी (प्राचीन शव) पिता को डेड (मरा हुआ) बोलते हैं तो चाचा, मामा, बडे पिता आदि को अंकल और चाची, मामी, बडी माता आदि को आंटी कह कर संबोधन करते हैं जिससे संबन्ध की स्पष्टता, मधुरता, गांभीर्यता, व्यापकता, आत्मीयता मृतप्राय हो जाती है। पहले पर्व, त्यौहार से लेकर रोज भी जो घर में मिष्टान्न आदि बनते थे उसे आस पास के पडोसी, मित्र आदि को बाँट कर खाते थे। **'अतिथि देवो भवः' 'मातृ देवो भवः' 'पितृ देवो भवः' 'आचार्य देवो भवः'** रूप में उनकी सेवा, सुरक्षा, प्रसन्नता को अहोभाग्य मानते थे परंतु अभी उनसे ईर्ष्या, द्वेष, वैरत्व, शोषण आदि कर रहे हैं। यथा -

अनृते पटुता चौरे चित्तं सतामपमानता । (पुत्राः पित्रुर्द्वेषिणः)
मतिरविनये धर्मे शाठ्यं गुरुष्वापि वंचना॥

ललित मधुर वाक् प्रत्यक्षे परोक्ष विभाषिणी।
कलियुग महाराजस्यैताः स्फुरन्ति विभूतयः॥

झूठ बोलने में चतुर, दक्ष, चोरी में दत्त चित्त, सज्जनों का अपमान, पुत्र पिता से द्वेष करने वाला, अविनीत मति, धर्म में शठता (मायाचारी) गुरु की भी वंचना, प्रत्यक्ष में ललित मधुर वचन बोलना एवं परोक्ष में विपरीत भाषण करना यह सब कलियुग महाराज के वैभव का विस्तार है।

कलिकाल में धर्म करने वाले धन्य

धन्या भारतवर्ष संभवजना योऽद्यापि काले कलौ।
निस्तीर्थेश्वर केवले निरवद्यो भ्रश्यन्मनःपर्यये॥
त्रुट्यच्छ्रोत्र विशेष संपदि भव दौर्गत्य दुःखापदि।
श्री जैनेन्द्रवचोनुरागवशतः कुर्वित धर्मोद्यमम्॥

वर्तमान घोर पंचम कलिकाल में तीर्थंकर, केवली, अवधि, मनःपर्यय ज्ञानियों का अभाव है, योग्य श्रोताओं का भी अभाव है, विशेष वैभव से रहित दरिद्रता आदि संकट से सहित कलियुग के मनुष्य हैं। इसी प्रकार विपरीत कलियुग में भी जिनेन्द्र देव के वचनानुसार धर्म में उद्यत होते हैं वे अत्यन्त अभिनंदनीय, अभिवंदनीय एवं धन्यवाद के पात्र हैं।

आचार्य श्री भरतसागरजी गुरूदेव का स्वागत करते हुए एवं
अगवानी करके ले जाते हुए आचार्य श्री कनकनन्दीजी (नरवाली)

वैज्ञानिक उपकरणों से लाभ- हानियाँ तथा सुरक्षा के उपाय

वैज्ञानिक शोध-बोध-खोज-अविष्कार से मानव समाज का भौतिक, बौध्दिक विकास के साथ-साथ साधन सामग्री में भी नित्य नये नये उपकरणों की वृध्दि होती जा रही है। इससे बौद्धिक संकीर्णता, कूपमण्डुकता, धार्मिकादि अंधविश्वास, भाग्यवाद, नियतिवाद, कालवाद, बाबावाक्य प्रमाणम्, क्षेत्रिय संकीर्णता, भेद-भाव आदि विध्वंस होते जा रहे हैं तथा बौद्धिक उदारता, व्यापकता,कार्यकारण सिध्दान्त, पुरूषार्थ, परिवर्तन शीलता,प्रगतिशीलता, परीक्षा प्रधानता, समानता, सत्य-तथ्यात्मकता, वैश्वीकरण आदि के नये मापदण्ड स्थापित होते जा रहे हैं। इससे पूर्वकाल में अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूकम्प, महामारी, अकाल आदि से जो साधन, सूचना परिवहन आदि की कमी या अभाव के कारण जो जन-धन हानि होती थी उसमें भी कमी आई है। धर्म के नाम पर जो हत्या(बलि) भेद-भाव,घृणा, कलह, युध्द, आक्रमण, विध्वंस, बलात्कार, शोषणादि होते थे उसमें भी ह्रास हो रहा है। रोग, कुपोषण, प्राकृतिक प्रकोपादि से जो अपमृत्यु होती थी उसमें भी ह्रास हो रहा है। हरितक्रान्ति, श्वेतक्रान्ति, औद्योगिक क्रान्ति, चिकित्सा क्रन्ति, शिक्षाक्रान्ति, राजनैतिक क्रान्ति, कानून क्रान्ति, अंतरिक्ष क्रान्ति आदि भी प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप में वैज्ञानिक क्रान्ति की संतान है। इससे भुखमरी, कुपोषण, शोषण, उपनिवेशवाद, रुग्णता, अशिक्षा, बर्बर आक्रमण, अंधा फैसला आदि कम हो रहे हैं। विशेषत: वैज्ञानिक ज्ञान (शोध-बोध) के कारण जो सापेक्ष सिद्धान्त, पारिस्थितिकी, पर्यावरण सुरक्षा, शाकाहार, मनोविज्ञान आदि सूत्रों की खोज हुई। इससे मनुष्य,पशु-पक्षी, प्रकृति आदि की हानि के परिवर्तन में लाभ ही पहुँच रहा है; परंतु वैज्ञानिक उपकरण से कुछ लाभ हैं तो कुछ हानियाँ भी हैं। विशेषत: जब वैज्ञानिक उपकरणों का दुरुपयोग किया जाता है तब लाभ की अपेक्षा हानियाँ अधिक होती हैं। निम्न में विभिन्न वैज्ञानिक उपकरणों की हानियों के ऊपर प्रकाश डाल रहा हूँ-

1) कल-कारखाना से लाभ-हानि-

आधुनिक वैज्ञानिक युग की अभिव्यक्ति का सबसे बडा माध्यम है कल-कारखाना इससे ही औद्योगिक क्रान्ति हुई। सुई, वस्त्र, यान वाहन, औषधि, अस्त्र-शस्त्र, वैज्ञानिक उपकरण, गृह उपकरण से लेकर कल-कारखानों के उपकरण भी कल-कारखानों से बनते हैं। इसलिए **वैज्ञानिक युग एक प्रकार से 'कलयुग' है**। इससे पशु-पक्षी, मनुष्य श्रम का कम हुआ, कार्य में तीव्रता आयी, सामान (वस्तु,चीज) के उत्पादन

में वृद्धि हुई। इस लाभ के साथ-साथ निम्नोक्त अनेक हानियाँ हुई, इससे जल, मृदा, वायु, शब्द प्रदूषण बढा। जङ्गल-वृक्ष कटे जिससे उर्पयुक्त प्रदूषण वृद्धि में और भी तीव्रता आयी। खेती योग्य भूमि में भी कमी हुई। इसके साथ-साथ भूमंडलीय तापमान बढा, हिमस्खलन-गलन बढा, वृष्टि में, मौसम चक्र में अनियमितता हुई जिससे अतिवृष्टि, अनावृष्टि(बाढ,सूखा, अकाल) आदि में वृद्धि हुई। गृहउद्योग घटे जिससे गरीब और भी गरीब होते जा रहै हैं,हस्तकला मरती जा रही है, ग्राम उजडते जा रहै हैं जिससे अमीर-गरीब की खाई बढती है, नगर में ग्राम के लोग आकर बसने लगते हैं। इससे ग्रमीण संस्कृति क्षीण होती है। नगर की जनसंख्या बढने से आवासीय समस्या, प्रदूषण, अपसंस्कृति बढती है।

2) यान-वाहन से लाभ-हानि-

वैज्ञानिक क्रान्ति को परिवहन तथा गतिशील बनाने में यान-वाहनों का योगदान भी महत्तवपूर्ण है। इसके कारण कारखानों में उत्पादित सामान, प्राकृतिक संसाधन सामग्री, मनुष्य,पशु-पक्षी आदि का स्थानान्तरण /परिवहन आदि तीव्रता से होता हैं। इससे आवश्यकता की आपूर्ति सहजता से होती है। प्रकृतिक आपत्तियाँ यथा- बाढ, अकाल, भूकम्प, महामारी, सुनामी आदि तथा मनुष्यकृत विपत्तियाँ यथा- गृहयुद्ध,युद्ध, विश्वयुद्ध आदि में भोजन, औषधि, सहायक व्यक्ति आदि की आपूर्ति/सहायता दूर-दूरस्थ देश -विदेश से सरलता से शीध्रता से होती है। आवश्यक गन्तव्यस्थलों में , घाटी -पर्वत आदि दुर्गमस्थलों में यहाँ तक कि सुदूर अन्तरिक्ष में भी पहुँचना सरल होता जा रहा है। परन्तु इसके कारण शब्द प्रदूषण, वायु प्रदूषण, दुर्घटना में धन-जन हानि के साथ- साथ मनुष्यों का पैदल चलना कम होता है जिससे व्यक्ति शारीरिक रूप से निष्क्रिय , दुर्बल , रोगी होने के साथ-साथ मानसिक रूप से भी रोगी,दुर्बल हो जाता है। इतना ही नहीं यान -वाहन में यात्रा करने के कारण पैदल चलने में तकलीफ होती है , लज्जा आती है। जिससे थोडी दूरस्थ मन्दिर, दुकान , प्रतिष्ठान, स्कूल , कॉलेज, कार्यालय बगीचा, खेत आदि में जाने के लिए भी गाडी की आवश्यकता होती है। उसके लिए समय , धन आदि काभी अपव्यय होता है। यातायात में भीड-भाड के कारण असुविधा होती है, यातायात के लिए जो रोड, रेल मार्ग बनते हैं उससे अनेक वृक्ष कटते हैं, कृषि योग्य भूमि नष्ट होती है, अधिक देश -विदेश के लोगों के गमनागमन से केवल भीड, भौतिक -प्रदूषण नहीं बढता है अपितु सांस्कृतिक प्रदूषण भी बढता है जिससे वहाँ की अच्छी संस्कृति , सरल -सहजता, प्रेम- एकता, शीतलता - मधुरता घटती है तथा प्रतिस्पर्ध्दा, दिखावा, फैशन -व्यसन, चोरी-डकैति, तस्करी, बलात्कार,

गुण्डा-गर्दी, हत्या, अस्त-व्यस्तता,धोखा-धडी, मिलावट, आतंकवाद आदि बढते हैं।

3) सूचना एवं मनोरंजन क्रान्ति के उपकरण से लाभ -हानि-

वैज्ञानिक क्रान्ति को वैश्विक बनाने के लिए तथा विश्व को एक संयुक्त परिवार (वैश्विकरण) बनाने में सूचना उपकरण यथा टी.वी. रेडियो, समाचार पत्र, इन्टरनेट, E-Mail, फोन, सेलुलर फोन , मोबाइल फोन आदि का महत्वपूर्ण योगदान है। मनोरंजन के लिए उपर्युक्त साधनों के साथ-साथ सिनेमा का भी योगदान है। इससे पृथ्वी भर की ताजी घटनाओं की ताजी सूचनायें क्षण भर में प्रथ्वी पर प्रसारित हो जाती है; जिससे ज्ञानलाभ, आगामी विपत्तिओं से सुरक्षा, दूसरों के सुख - दु:खो में सहभागिता आदि संभव हो रही है। टी.वी. के अविष्कार से यह आशा, संभावना थी कि इससे घर-घर ही विद्यालय बन जायेंगे। परन्तु अधिकांश टी. वी. प्रोग्राम (डिस्कवरी, नेशनल् ज्योग्रोफी आदि को छोडकर) से हिंसा, बलात्कार, चोरी, फैशन, व्यसन आदि का ही प्रशिक्षण प्राप्त होता है। इसी प्रकार सिनेमा आदि में भी हो रहा है जो विध्यार्थी ऐसे प्रोग्राम में रूचि लेते हैं उनके अध्ययन में तथा अन्यान्य जो व्यक्ति ऐसे प्रोग्राम में रूची लेते हैं तो वे भी अपने-अपने कर्त्तव्यों में समुचित समय नहीं दे पाते हैं। इतना ही नहीं इससे आँखें खराब होती हैं ,खेल-कूद, अध्ययन,मनन, चिंतन, भ्रमण, सांस्कृतिक कार्यक्रम, सामूहिक चर्चा, दूसरों के सुख-दुख में सहभागिता, व्यवस्थित धार्मिक कार्यक्रम आदि में व्यवधान पडता है। महापुरुषों के बदले में हीरो-हीरोइन, खेल- खिलाडी, खलनेता(कुख्यात व्यक्ति) आदि को महत्व देते हैं, आदर्श मानते हैं, प्रशंसा करते हैं, उनका अनुकरण करते हैं इससे स्वस्थ मनोरंजन के बदले में अनेक मनोविकृत्तियाँ उतपन्न होती हैं।

4) अस्त्र-शस्त्र से लाभ-हानि-

आत्म रक्षा, राष्ट्ररक्षा, जन-धन की रक्षा, दुर्बलस्त्री असहाय, मंदिर-मूर्ति आदि की रक्षा क्रूर, बर्वर, आक्रान्ता, लुटेरे,बलात्कारी, आतंकवादी, चोरी, डकेती आदि से न्यायोचित रूप से रक्षा करने के लिए अस्त्र-शस्त्र की आवश्यकता होती है परंतु अस्त्र-शस्त्रों का दुरुप्रयोग दुष्ट, दुर्जन, हिंसक, आतंकवादी, लुटेरें, साम्राज्यवादी,तानाशाही आदि अनुचित रूप से करते हैं जिससे प्रचुर जन-धन की हानि होती है।वर्तमान के वैज्ञानिक अस्त्र-शस्त्र अधिक घातक, विस्फोटक, पर्यावरण प्रदूषणकारी,विकिरण से युक्त होते हैं। द्वितीय महायुद्ध इसके लिए ज्वलंत उदाहरण हैं। अस्त्र-शस्त्र के दुरुपयोग और इसका दुष्परिणाम का ज्ञान अधिकांश व्यक्तियों को है इसलिए इसका विशेष वर्णन नहीं कर रहा हूँ।

5) गृह उपकरण से लाभ-हानि- विभिन्न गृह उपकरणों से कार्य में तीव्रता

आई, समय की बचत हुई, यह लाभ का पक्ष है परन्तु गृह उपकरणों से जो विशेषत: सतत् अरबों महिलाओं के लिए हानि हो रही है वह हानि लाभ से अत्यधिक है। भोजन बनाने वाले उपकरण से भोजन की गुणवत्ता मधुरता कम होती है। वॉशिग मशीन, मिक्स्चर, माइक्रोवेव, टोस्टर, ए.सी. ग्राइन्डर, अनाज एवं मसाला पीसने के उपकरण, पानी के नल, ट्यूबवेल आदि से महिलाओं को परिश्रम कम करना पडता है विभिन्न प्रकार के प्रदूषण बढते हैं, प्राकृतिक संसाधन, कुटीर उद्योग की सामग्री, जल के प्राकृतिक स्रोत (नदी, झरना, तालाब, बावडी, कुआँ आदि) की उपेक्षा के कारण वे बेकार हो रहे हैं। शारीरिक श्रम के बिना महिलाओं को मोटापा, डायविटीज, रक्तचाप, हार्टअटैक, तनाव, आलस्य, निष्क्रियता, शरीर में दर्द आदि रोग हो जाते हैं। पानी की सप्लाय नल द्वारा होने से अनुचित रूप से पानी का प्रयोग करते हैं, नल खुले छोड देते हैं जिससे प्रचुर पानी अनावश्यक रूप से बह जाता है। इससे पानी का दुरुपयोग होता है, गन्दगी तथा दुर्गन्ध फैलती है, यातायात में असुविधा होती है, प्रदूषण बढता है, मच्छर-रोगाणु-कीटाणु उत्पन्न होते हैं जिससे मलेरिया आदि रोग होते हैं। भोजन बनाने में रसोई गैस के प्रयोग से घर में प्रदुषण होता है, भोजन की गुणवत्ता, मधुरता घटती है, विभिन्न रोग होते हैं। बाजार आदि से सामान लाने के लिए प्लास्टिक की थैलियों को प्रयोग में लाने के कारण उससे जो प्रदूषण हो रहा है तथा पशुओं के द्वारा उसके भक्षण से पशुओं को पीडा एवं मृत्यु तक हो जाती है। वैज्ञानिक बेकार उपकरण घुलनशील नहीं होने के कारण इससे कचरे की मात्रा बढती है जिससे प्रदूषण बढता है।

उपर्युक्त वर्णन से सिद्ध होता है कि गृहोपकरणों से उत्पन्न होने वाले छोटे-छोटे मच्छर आदि के समान ही वे उपकरण छोटे-छोटे होते हुए भी खोटे-खोटे हैं। और भी कुछ मैंने (आ. कनकनंदी) शोध-बोध किया है कि जो ऐसे उपकरण प्रयोग में लाते हैं वे स्वयं को प्रगतिशील, आधुनिक, धनी, पढे-लिखे मानते हैं और जो ऐसे उपकरण प्रयोग में नहीं लाते हैं उन्हें गवार-मूर्ख, गरीब, पिछडा, अनाडी मानकर उनसे बेटी व्यवहार नहीं करते हैं।

6) रायनिक खाद, किटनाशक, रसायन आदि से लाभ-हानि

इससे आनाज-फल-सब्जी आदि के उत्पादन में वृद्धि हुई और उसकी सुरक्षा भी हुई। जिसके कारण कुपोषण, भुखमरी में कमी आई किंतु इससे मृदा धीरे-धीरे बंजर होती जाती है। आगे अधिक से अधिक खाद डालने की आवश्यकता पडती है जिससे मृदा और भी अधिक उर्वरा शक्ति से हीन होकर बेकार हो जाती है। भले इससे उत्पादन बढता है परंतु गुणवत्ता, स्वाद घटता है जिससे अनेक शारीरिक, मानसिक रोग होते हैं। कीटनाशक, रसायन के प्रयोग से भोजन विषाक्त हो जाता है जिससे अनेक रोग हो जाते हैं। भोजन भी गुणहीन,

रसहीन हो जाता है और दुर्गंध आती है। दोनों के प्रयोग से मृदा, वायु, जल प्रदूषण बढता है। अनेक सूक्ष्म, स्थूल जीव-जंतु, केंचुआ, पतंग-भ्रमर, मधुमक्खी आदि के मृत्यु के कारण मृदा की उर्वरता घटती है, पराग क्रिया सही नहीं होती है जिससे उत्पादन कम होता है। इसके सेवन से अनेक लोग आत्महत्या भी कर लेते हैं। रासायनिक खाद से शराब, सिंथेटिक दूध आदि भी दुष्ट लोग बनाकर बेचते हैं जिससे अनेक रोग एवं मरणादि होते हैं।

इसी प्रकार भोजन प्रयोग में मिलावट करने वाले रङ्ग, कृत्रिम स्वाद, गंध आदि से अनेक शारीरिक, मानसिक रोग होते हैं। कृत्रिम खाद्य, फास्ट फूड, शीतल पेय, वस्त्र, अलंकार, खिलौना, गैस, प्रसाधन सामग्रियाँ (लिपस्टीक, नैलपॉलिश, क्रीम, पाउडर, सेंट आदि) से भी हिंसा के साथ-साथ अनेक शारीरिक, मानसिक रोग होते हैं तथा विविध प्रदूषण भी होते हैं।

7) वैज्ञानिक चिकित्सा/शिक्षा से लाभ-हानि

आधुनिक चिकित्सा (एलोपॅथी) के कारण चेचक आदि रोग प्राय: समाप्त हो चुके हैं तो कुछ कैन्सर आदि रोगों की चिकित्सा हो रही है, तथा हृदय, किडनी आदि की शल्य-क्रिया हों रही है। इससे अकाल मृत्यु, शिशु मृत्यु घटी है, तो आयु की औसतन सीमा में वृद्धि हो रही है। रोगी की पीडा शीघ्रतासे कम होती है, एनेस्थिसिया आदि नि:श्चेतन औषधि से रोगी को नि:श्चेत करके शल्य-क्रियादि करते हैं जिससे उसे कष्ट नहीं होता है। इन लाभों के साथ-साथ निम्नोक्त हानियाँ होती है। इसके अध्ययन, परीक्षण-निरीक्षण के लिए अनेक निर्दोष पशु-पक्षी आदि को प्रयोग में लाते हैं जिससे उसे पीडा, परतंत्रता के साथ-साथ अनेको की मृत्यु भी होती है या मारा भी जाता है। अनेक औषधियों के निर्माण में भी अनेक निर्दोष जीवों को मारा जाता है या मरें हुए के अङ्गोपाङ्ग का प्रयोग होता है। अनेक औषधियों का निर्माण रसायनों से भी होता है। इन सब कारणों से ऐसी औषधियों के सेवन से हिंसा के साथ-साथ अन्य अनेक शारीरिक, मानसिक रोग भी हो जाते हैं, रोग प्रतिरोधक शक्ति घटती है।

8) प्रकृति का शोषण -

विज्ञान के कारण प्रकृति का अध्ययन, शोध-बोध, उपयोग के साथ-साथ प्राकृतिक आपदाओं की पूर्व सूचना को भी प्राप्त किया जाता है जिससे उसके नियंत्रण के उपाय किये जाते हैं, कुछ अंशों में सफलता भी प्राप्त हो रही है। इन सब लाभों के साथ-साथ निम्नोक्त अनेक हानियाँ भी है। प्रकृति रूपी माता से प्राकृतिक संसाधन रूपी दुग्ध का दोहन/दुग्ध-पान तो मनुष्य रूपी संतान का न्यायोचित अधिकार है क्योंकि इससे तो वह जीवित रहता है तथा विकास करता है। परंतु स्वर्ण अंडा के लोभ से मुर्गी की हत्या के

समान विज्ञान के कारण प्रकृति के दोहन के बदले शोषण/हनन हो रहा है। पृथ्वी की छाती को विदारण करके खनिज धातु, कोयला, पत्थर, गैस, तेल, पानी आदि का शोषण हो रहा है जिससे पृथ्वी, प्रकृति, वातावरण का संतुलन बिगड रहा है। इससे जल का स्तर घटने के कारण कुआँ, बावडी, तालाब आदि सुखते जा रहे हैं। इतना ही नहीं इससे वायु प्रदूषण, जल प्रदूषण, शब्द प्रदूषण भी बढ रहे हैं। पृथ्वी के खोखले होने से भूस्खलन, भूकंप आदि की संभावना भी बढती है। वनस्पति कटने से तापमान बढता है, वर्षा कम होती है, उर्वरा भूमि का अपरदन (क्षरण) होता है जिससे अनाज आदि का उत्पादन घटता है ।

9) सारांश एवं शिक्षायें -

निष्कर्ष रूप से कहे तो मानव को वैज्ञानिक सिद्धान्त, वैज्ञानिक उपकरण से लेकर प्राकृतिक संसाधन, बुद्धि, शक्ति, समय, धन, शिक्षा आदि का स्व-पर के लिए सदुपयोग करना चाहिए न कि दुरूपयोग। सदुपयोग से विकास तो दुरुपयोग से विनाश ही संभव है। सदुपयोगी मानव महामानव बनता है तो दुरुपयोग से महादानव बनता है। किंवदन्ति है कि भस्मासुर ने शिव से यह वरदान प्राप्त किया कि वह जिसको स्पर्श करेगा वह भस्म हो जायेगा। वरदान प्राप्त करने के बाद वह शिव को ही भस्म करना चाहा। विष्णु ने मोहिनी रूपव धारण करके उसके सामने नाचते-नाचते अपने शिर के ऊपर हाथ रखा जिस का नकल भस्मासुर ने किया और स्व-शिर के ऊपर हाथ रखा जिससे वह भस्म हो गया। इस प्रकार मानव यदि स्वोपलब्धियों का दुरुपयोग करेगा तो वह स्वयं ही नष्ट हो जायेगा। इसी प्रकार और एक उदाहरण है कि एक राजा ने यह वर प्राप्त किया कि वह जिसे स्पर्श करता वह स्वर्ण बन जाता। पीने के लिए पानी को स्पर्श करने से पानी स्वर्ण बन गया तथा भोजन को स्पर्श करने से भोजन भी स्वर्ण बन गया जिससे वह भूखा-प्यासा रहा। दु:खी राजा स्वयं के दु:ख को दूर करने के लिए अपनी प्यारी सी राजकुमारी को स्पर्श किया तो वह भी स्वर्ण बन गई। दु:खी होकर कोमल शय्या में सोया तो वह भी स्वर्ण की बन गई। अन्त में दु:खी राजा उस उपरोक्त वर को लौटा दिया/त्याग कर दिया। इसी प्रकार मानव जितना-जितना भौतिक भोगवादी, शोषणकारी, लोभी, परिग्रहानन्दी, हिंसानन्दी, बाजारवादी बनता जाएगा उतना-उतना वह दु:खी होता जायेगा। प्राणवायु के समान आध्यात्म, जल के समान नैतिकता तथा भोजन के समान भौतिकता के सन्तुलन से ही जीवन में विकास, सुख-शान्ति, समृद्धि सम्भव है। अत: मानव को भौतिकता रूपी भोजन से नैतिकता रूपी जल को अधिक महत्व देना चाहिए तथा प्राणवायु रूपी आध्यात्म को सदा-सर्वदा अत्यन्त महत्व देना चाहिए।

संपूर्ण जीवों के समग्र विकास ही सर्वोदय हैं

संतों का अनुशासन सत्ता पर होने से ही सर्वोदय संभव है

(सवाईसिंह जी, बाबुलाल जी एडवोकेट एवं प्रतिनिधि मंडल)

सम्पूर्ण क्रांति यात्रा (सर्वोदय संघ)

आचार्य श्री की भावना एवं कार्य से प्रेरित होकर सिद्धराज डढ्ढा साहब का प्रतिनिधि मंडल आ. श्री कनकनंदी जी से विचार विमर्श करने नरसिंहपुरों का नोहरा (उदयपुर) पधारें एवं आ. श्री से नशामुक्ति एवं सम्पूर्ण क्रांति यात्रा पर विचार विमर्श किया।

शिष्ट मंडल ने कहा संतों का अनुशासन सरकार और सत्ता पर होना चाहिए ताकि सत्ता का नियंत्रण हो सके। संतों के द्वारा ही समाज, कानून एवं राजनीति को सुधारा जा सकता है। संत ही समाज के मार्गदर्शक है। जनता को जनता में से ही प्रतिनिधि को चुनना चाहिए ताकि सभी क्षेत्र में जैसे आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि में सही व्यवस्था हो सके। शिष्ट मंडल ने संस्मरण बताते हुए कहा कि पूर्व में भी एक साधु ने नशामुक्ति के लिए यह आंदोलन छेडा था परंतु सरकार के दबाव के कारण यह कार्य छोडना पडा।

आ. श्री ने बताया कि मैं किसी से भय नहीं रखता हूँ, मैं किसी से दबने वाला नहीं हूँ। बाल्यावस्था में एवं विद्यार्थी जीवन में कानून, राजनीति, शिक्षा में मैंने काम किया है, मुझे सभी क्षेत्रों का अनुभव है इसीलिए मैं किसी के दबाव में आकर चुप नहीं बैठता हूँ। मैंने कायरता कभी सीखी ही नहीं है। मैंने यहाँ पर गुलाबचंद कटारिया (गृहमंत्री राजस्थान सरकार) को बुलाकर शराब बन्द करने के लिए सुझाव दिया हूँ। इस के पूर्व जनान्दोलन के माध्यम से विशाल रैली निकालकर कलेक्ट्री के द्वारा मुख्यमंत्री को इस संबंधी ज्ञापन भी भेजा हूँ। हिंसा/बुचडखाना बन्द करने के लिए लोकहित याचिका भी राष्ट्रपति के पास भेजा हूँ। अभी मैं फैशन-व्यसन को दूर करने एवं शिक्षा पर ज्यादा कार्य कर रहा हूँ एवं आज की शिक्षा पद्धति को बेकार समझते हुए उसे सुधारने का प्रयास कर रहा हूँ। इस उद्देश्य से विभिन्न कार्यक्रम चल रहे हैं यथा मेरे साहित्य के ऊपर विभिन्न विश्व विद्यालयों में अनेक शोध कार्य हो रहे हैं एवं कक्षा की स्थापना हो रही है। **''आ. श्री कनकनंदी कक्ष''** अभी उदयपुर के विश्व विद्यालय में स्थापित हुआ। महिला शासन में महिलाओं द्वारा शराब को बढावा दिया जा रहा है ऐसा करके भारतीय संस्कृति को नष्ट-भ्रष्ट किया जा रहा है जिससे भारत का विकास

नहीं हो सकता है। इसके लिए नशा, फैशन-व्यसन, दिखावे को कम करना पडेगा।

शिष्ट मंडल ने कहा कि सम्पूर्ण क्रांति यात्रा में हमने इस कार्य का शुभारंभ किया है और विकास एवं कार्य की दृष्टि से हमने कुछ संस्थाएँ तैयार की हैं। भारत में केवल शराब की समस्या न होकर और भी कई समस्यायें हैं जैसे बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को बढावा दिया जा रहा है एवं कृषि संबंधी, रोजगार संबंधी कई समस्यायें हैं। सम्पूर्ण प्रदेश स्तर की सभा के लोगों को बुलवाकर जनांदोलन करेंगे एवं शराब बंदी के लिए समय बद्ध कार्यक्रम तैयार करेंगे। वैकल्पिक शिक्षा, वैकल्पिक राजनीति एवं चहुमुँखी विकास को ध्यान में रखकर यह कार्य करना है।

सम्पूर्ण क्रांति का मतलब ही यह है कि एक व्यक्ति से लेकर सभी व्यवस्थाओं को पूरा करना। भारत में आन्दोलन को बढाने हेतु कई तरह की एवं सभी रंगों की सरकारे आयी हैं। जैसा परिवर्तन होना चाहिए वैसा कुछ भी परिवर्तन नहीं हुआ है इसलिए हमने सोचा कि यह संम्पूर्ण क्रांति यात्रा का पुन: आरंभ किया जावे।

आचार्य श्री ने फरमाया कि जो कुछ भी अच्छा कार्य है एवं सत्य है उसके लिए मैं सदैव सहयोग करुँगा लेकिन इसके लिए हमें सर्वांगीण विकास करने की आवश्यकता है। सर्वांगीण विकास होने से ही हम आगे बढ सकते हैं। इसे आगे बढाने के लिए हमें आधुनिक शिक्षा, पंथ, मत एवं राजनीति से बचना चाहिए। इसमें फँसना नहीं चाहिए। अगर इसमें फँस जायेंगे तो हमारे देश का विकास नहीं हो सकता; हम कार्य के बीच में ही अटक जायेंगे, भटक जायेंगे, लटक जायेंगे। हमें सबसे पहले हमारा कर्तव्य करना चाहिए क्योंकि अगर हम में जरा सा भी स्वार्थपरता एवं संकीर्णता की भावना आ जायेगी तो हम आगे नहीं बढ पायेंगे। हमें अच्छाइयों को स्वीकार करना चाहिए एवं बुराइयों को नकारना चाहिए एवं सभी कार्य को संगठन से करना चाहिए जिससे देश उन्नत हो सके। विघटन को छोडकर हमें कार्य करना चाहिए। विघटन के कारण हमारा भारत आगे नहीं बढ पा रहा है।

अन्त में आचार्य श्री ने सभी को आशीर्वाद देते हुए कहा कि भारत को पुन: विश्वगुरु बनायें एवं मैं आपका तन-मन से जरुरत पडने पर अवश्य ही सहयोग करुँगा एवं उन्हें स्व-रचित अनेक ग्रंथों को स्वाध्याय के लिए आशीर्वाद रूप प्रदान किया।

ghu Hkkouk l jfgr gkdj Hkkjrh; lL—fr dk viukdj Hkkjr iu% J"B cu ldrk gA

¼vk- Jh dudunh th dh Hkkouk] dk; i.kkyh rFkk n'k&fon'k e oKkfud vk/kfud ifji{; e /ke dh iHkkouk l ifjr gkdj n'k&fon'k d fofHk™k {k= d fof'k"V 0;fä vkpk; Jh l ppk dju d fy,] ekxn'ku d fy,] HkV d fy, rFkk n'ku d fy, vkr gA bl Ük[kyk e ^^Lokeh lkefxjh th** Hkh vkpk; Jh d ikl vk; FkA nkuk d e/; tk ppk gb og fuEu idkj l gA vk- Jh u mUg Lo&jfpr lkfgR; Hkh HkV :i e inku fd;k vkj ;g Hkh dgk fd vkid Hkh lkfgR; ej v/;;u d fy, if"kr djukA½

vk- dudunh th%& Lokeh th&io e vki bth fu;j Fk vHkh vki lr gk] vkiu tk dN vuHko fd;k ;k v/;;u fd;k mld vk/kkj ij ejh dN ftKklk; g mudk lek/kku vki djukA ejh ftKklk ;g g fd Hkkjr bruk ikphu] vk/;kRe lEi™k n'k g vkj Lor= g, 58 lky g, rFkkfi Hkkjr e tlk fodkl gkuk pkfg, olk ugh gk ik jgk g rFkk Hkkjr e Hk"Vkpkj D;k g \

Lokeh lkefxjh th %& Hkkjr e vHkh rd ghu Hkkouk gA vHkh rd ge vrhr l ugh tM gA foKku e tk vojk/k vk jgk g ml Hkkjr gh nj dj ldrk gA

vk- Jh- %& gekj ikl lc dN gkr g, Hkh ge J"B fl) D;k ugh gk ik jg g \

Lokeh th %& vUrrkxRok lR; dh gh thr gkxhA ftruk foKku vkx c< jgk g mUg ;g lc le> e vk jgk g vkj tgk ij o #d jg g mldk ekxn'ku Hkkjr gh dj ldrk g A vHkh Hkh Hkkjr e lR; ckyu dh nf"V l lL—fr dh nf"V l ;k fdlh Hkh nf"V l l{ke ugh gk ik jg g D;kfd ge v/kdkj l xtj jg gA ge eX/k Hkko l fugkj jg gA ;k vrhr dh itk dj jg gA Kku o /ke dk ydj cf) dk

Hkn vf/kd g bldk dkj.k ;g tk viu vki dk vk/;kfRed dgrk g] doy vk[k cn djd cBuk og doy /kkfed ;k /ke ugh gA vHkh Hkh ftKklk ugh g og doy jVUr fo|k l py jg gA tk oKkfud gkxk og lHkh dk Lohdkj djxkA lHkh ij i;kx djrk gA ;g lc gekj n'k e ikp nl gtkj o"k igy gkrk FkkA gekj 0;fä vijk fo|k l ijk fo|k dh vkj c<r Fk] gekjk foKku o /ke ,d FkkA foKku o /ke vyx g ;g if'peh lkp gA vijk fo|k ,d c/ku fo|k ugh Fkh og eä fo|k gA gekj ;gk cã fo|k gA ge ikjC/k e tkuk pkfg,A gekjh vko';drk g fd ge txr o lekt dk le>A bu lHkh dk le>u ij ge ;g dk; dj ldr gA /kkfed f'k{kk e foHkk tu gk x;k gA Ldy o /kkfed f'k{kk d foHkk tu dk rkMx rk ge dN dj ik;xA rHkh oreku f'k{kk d ykx gekj /kkfed 'kkL= dk viuk;xA

vk- Jh- %& gekj ;gk xFkk e lR; dk vf/kd egRo fn;k x;k g] rFkkfi gekj ;gk vHkh lR; dk D;k ugh le> ik jg g \

Lokeh th %& ;g lc ekufld nklrk dk y{k.k gA ge of'od tkxj.k dh ifØ;k dk le>uk iMxkA gekj ;gk lHkh e in"k.k g mlh idkj vk/;kRe e Hkh in"k.k gA geu fofo/krk dk Lohdkj fd;k g yfdu ge food dk tkxj.k j[kuk pkfg,A geu vudkrokn dk Lohdkj fd;k gA

vk- Jh- %& vk/;kfRed ixfr o ufrd ixfr d fy, ge D;k D;k djuk pkfg, \

Lokeh th %& ,d 0;fä ij lekt l tMk jgrk gA og fdlh dk ifr o fdlh dk firk gkrk gA mldk NkV d ifr Hkh dN dr0; gkr g mlh idkj cM d ifr Hkh dN mÝkjnkf;Ro gkr gA

vk- Jh- %& vk/;kfRed nf"V l iR;d tho leku g blfy, lc d ifr leku 0;ogkj djuk pkfg, rFkkfi ,d /kekoyEch vU; /kekoyfEc;k l ?k.kk D;k djr g \

Lokeh th %& og okLro e /ke ugh gA og x# ijEijk l lgh :i l vk/;kRe dk ugh i< gA doy iLrdh; fo}ku gk x; ijr vuHkfr

ugh gA tk cã rRo e yhu g ogh vk/;kfRed gA tl ,d cPpk vkJe l i<dj vkrk g rk ml mld firkth iNr g cVk i<kb ijh gk xb rk og ckyrk g gk ijh gk xbA rHkh mld firkth ml dN loky iNr g] ijr mle uerk ,o vuHkfr ugh Fkh blfy, mld firk ml cã fo|k fl[kkr gA rHkh l og viu firk dk x# ekuu yxrk gA mld vojk/k dk gVkuk FkkA lR; l tMuk o vlR; dk NkMuk gh prU; Kku o cã Kku gA

vk- Jh- %& Hkkjr ,d le) vk/;kfRed n'k gkr g, Hkh fon'k d efÎ Hkj ykx vkdj Hkkjr dk dl xyke cuk ik;A Hkkjr dh lHkh 'kfä;k dgk xb \

Lokeh th %& Hkkjr d Ldy o dkyt d bfrgkl xyr gA fVMMh ny dh rjg l ;g 'kfä fon'k l vkb gA ge vxtk dk efÎ Hkj dg ldr gA iFohjkt pkgku u egEen xkjh dk 17 ;k 21 ckj NkMk ;g /kekHkkl gA /kekHkkl mRi™k gku d dkj.k gekjh 'kfä fNi xb FkhA xyr vFk idMu d dkj.k /ke e fo—fr vk xbA fodkj vku d dkj.k og ekl kgkj dju yxA rRo Kku dk xg.k djd gh ge /ke] lR; o vfgl k dk le> ldr gA Hkkjrh; ykx lL—fr o /ke dk fo—fr eku cB g vkj ml fo—fr dk gh lR; eku cBA nx.k dk x.k ekuuk egkekguh; gA blfy, Hkkjr xyke jgk g o vHkh Hkh fodkl ugh dj ik jgk gA

vk- Jh- %& Hkkjr e cpM[kku] 'kjkc lou o v'yhyrk dk jkdu d mik; D;k g \ ge bld fo#) dk; dj jg g ml dk; e vki D;k lg;kx djx \

Lokeh th %& vki tl Hkh ftl idkj l lg;kx ekxx ge ykx r;kj g vkj ge iopu o lHkk e bldk fojk/k Hkh djr gA

पर्युषण पर्व का यह संदेश - अहिंसक बनो जैन समाज

इस लेख का शीर्षक (हेडिंग) पढकर-सुनकर ही अनेक लोग सोचते होंगे कि अहिंसक जैन समाज को पर्युषण पर्व जैसे पर्व में अहिंसा का संदेश क्यों या पर्युषण में तो विशेष पूजा होती है दस धर्म सम्बंधी प्रवचन होते हैं, व्रत उपवास होते हैं, सांस्कृतिक कार्यक्रम होते हैं, न कि अहिंसा सम्बंधी ! जरा ठहरो ! गहराई से विचार करो कि पर्युषण क्या है ? क्यों है ? कब है ? पर्युषण और अहिंसा का सम्बन्ध क्या है ?

परि माने चारो तरफ से, पूर्णता से, समग्रता से, बाह्य-अन्तरङ्ग से यानि हर तरफ से धर्म का सेवन करना, आचरण करना, आत्मसात् करना पर्युषण है। ''परि आसमन्तात् उष्यन्ते दध्यन्ते पाप कर्माणि यस्मिन् तत् पर्युषणम्।'' जो सब तरफ से आत्मा में रहने वाले कर्मों को तपाये/जलाये वह है पर्युषण। ये पर्युषण भादों में ही नहीं मनाये जाते। धर्म तात्कालिक नहीं होता, धर्म तो सार्वभौम त्रैकालिक होता है। धर्म का किसी मंदिर-मस्जिद, पूजा-पाठ, दिन-तिथि से सम्बन्ध नहीं होता। फिर ये दस दिन ही धर्म के क्यों बताये ? क्योंकि आप लोग धर्म सतत नहीं करते और कर भी नहीं सकते। मुनियों के लिए पर्युषण हमेशा ही होते हैं क्योंकि मुनि हमेशा ही इन दस धर्मों का पालन करते हैं।

आचार्य उमास्वामी ने 'उत्तम' शब्द दश धर्मों के नामों के प्रारंभ में रखा और अन्त में धर्मः शब्द एक वचन में रखा।

''उत्तम क्षमामार्दवार्जव शौच सत्य संयम तपस्त्यागाकिञ्चन्यः ब्रह्मचर्याणि धर्मः।''

उपर्युक्त सभी दश धर्म पृथक् रूप से एक-एक अङ्ग हैं, इसलिए सूत्र के अन्त में 'धर्म' एक वचन का प्रयोग किया गया है। ये सभी दश धर्म मूलतः एक ही हैं। समझाने हेतु अलग-अलग ढंग से दस प्रकार से समझाया है।

प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा।

By (प्रमत्तयोग) Passional vibration, (प्राणव्यपरोपणं) the hurting of the vitalies, (is) हिंसा injury.

प्रमत्तयोग से प्राणों का वध करना हिंसा है।

बिना विचारे जो प्रवृत्ति होती है, वह प्रमत्त है। जैसे सुरा (मदिरा) पीने वाला मदोन्मत्त होकर कार्य-अकार्य, वाच्य-अवाच्य से अनभिज्ञ रहता है, कार्य-अकार्य, वाच्य-अवाच्य को नहीं जानता है उसी प्रकार प्रमत्तयोग वाला जीवस्थान,

जीवोत्पत्तिस्थान, जीवाश्रयस्थान को नहीं जानने वाला अविद्वान् (मूर्ख प्राणी) कषाय के उदय से आविष्ट होकर हिंसा के कारणों में व्यापार करता है, उनमें स्थित रहता है परंतु सामान्यतया अहिंसा में प्रयत्नशील नहीं होता है। अतः मदोन्मत्त के समान होने से प्रमत्त कहलाता है। (इसमें 'मदोन्मत्त इव' अर्थ गर्भित है।)

अथवा पन्द्रह प्रमाद से परिणत होने से भी प्रमत्त कहलाता है। चार विकथा, चार कषाय, पाँच इंद्रियाँ, निद्रा और स्नेह (प्रणय) इन पंद्रह प्रमादों से जो परिणत (युक्त) होता है वह प्रमत्त कहलाता हैं।

काय, वचन और मन की क्रिया को योग कहते हैं। प्रमत्त-प्रमाद परिणत व्यक्ति के योग को प्रमत्त योग कहते है। 'प्रमत्तयोगात्' यह हेतु अर्थ में पंचमी है अतः प्रमत्तयोग के कारण प्राणों का व्याघात करना हिंसा है, इसमें प्रमत्तयोग कारण (भाव हिंसा) है और प्राण का व्याघात कार्य (द्रव्य हिंसा) है।

'व्यपरोपण' का अर्थ वियोग करना है। व्यपरोपणं, वियोगकरण ये एकार्थवाची हैं, प्राणों का लक्षण पंचम अध्याय में कहा है, उन प्राणों का व्यपरोपणं प्राण व्यरोपणं है।

प्राणों का व्याघात प्राणपूर्वक होता है अतः प्राण का ग्रहण किया गया है। प्राणों के वियोगपूर्वक ही प्राणी का वियोग होता है, क्येंकि स्वतः प्राणी निरवयव है, अतः उसके वियोग का अभाव है।

आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात् सर्वमेव हिंसैतत्।
अनृतवचनादिकेवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय ॥ पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय

आत्मा के परिणामों की हिंसा होने के कारण से यह सब ही हिंसा है; असत्य वचनादि केवल शिष्यों को बोघ करने के लिये कहे गये हैं।

यत्खलु कषाययोगात् प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम्।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा॥

निश्चय करके कषाय सहित योगों से द्रव्य और भावरूप प्राणों का जो नष्ट करना है, वह निश्चित रूप से हिंसा होती है।

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भावत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य सक्षेपः॥

निश्चय से रागादिक भावों का उदय में नहीं आना अहिंसा कहलाती है, इसी प्रकार एवं उन्हीं रागादिक भावों की उत्पत्ति का होना हिंसा है, इस प्रकार जिनागम का अर्थात् जैन सिद्धान्त का सारभूत रहस्य है।

युक्ताचरणस्य सतो रागाद्यावेशमंतरेणापि ।
न हि भवति जातु हिंसा प्राणव्यपरोपणादेव॥

योग्य आचरण वाले अर्थात् यत्नाचारपूर्वक सावधानी से कार्य करने वाले सज्जन पुरूष को रागादि रूप परिणामों के उदय हुए बिना, प्राणों का घात होने मात्र से कभी निश्चय करके हिंसा नहीं लगती है।

व्युत्थानावस्थायां रागादीनां वशप्रवृत्तायाम्।
म्रियतां जीवो मा वा धावत्यग्रे ध्रुवं हिंसा ॥

रागादिकों के वश में प्रवर्तित प्रमाद अवस्था में जीव मर जाय अथवा नहीं मरे, नियम से हिंसा आगे दौडती है।

यस्मात्सकषायः सन् हन्त्यात्मा प्रथममात्मनात्मानं।
पश्चाज्जायते न वा हिंसा प्राण्यंतराणां तु ॥

क्योंकि आत्मा कषाय सहित होता हुआ पहले अपने ही द्वारा अपने आप को मार डालता है, पीछे दूसरें जीवों की हिंसा हो अथवा नहीं हो।

हिंसायामविरंण हिंसापरिणमनमपि भवति हिंसा।
तस्मात्प्रमत्तयोगे प्राणव्यपरोपणं नित्यं ॥

हिंसा में विरक्त न होना तथा हिंसा में परिणमन करना, हिंसा कहलाती है इसलिये प्रमाद योग में नियम से प्राणों का घात होता हैं।

सूक्ष्मापि न खलु हिंसा परवस्तुनिबंधना भवति पुंसः।
हिंसायतननिवृतिः परिणामविशुद्धये तदपि कार्या॥

निश्चय से आत्मा के सूक्ष्म भी हिंसा, जिसमें परवस्तु कारण हो ऐसी नहीं होती है। तो भी परिणामों की विशुद्धि के लिये हिंसा के आयतनों-हिंसा के निमित्त कारणों का त्याग करना चाहिये।

वर्तमान पर्युषण अर्थात् उत्तम क्षमादि दस धर्म तथा अहिंसा का तुलनात्मक विवेचन या दोनों के स्वरूप/सम्बंध के बारे में विचार करते हैं। उपर्युक्त वर्णन से सिद्ध होता है कि भाव में क्रोध, मान, माया, लोभ, चार विकथा, पांचों इन्द्रियों के विषय आसक्ति, निद्रा एवं प्रणय रूपी प्रमाद ही निश्चय से हिंसा (भाव हिंसा) हैं। (1) इन प्रमादों से रहित होना भाव अहिंसा है, (2) इन प्रमादों से रहित होकर कथन करना सत्य है, (3) अप्रमादी होकर दूसरों के द्रव्यों को ग्रहण नहीं करना अर्चोर्य है, (4) प्रमादों से रहित होकर किसी भी द्रव्यों को स्वीकार नहीं करना अपरिग्रह है, (5) प्रमादों से रहित होकर आत्मा में स्थिर होना ब्रह्मचर्य है। उपर्युक्त प्रमाद से सहित होकर

स्व-पर के प्राणों का वियोग करना द्रव्य हिंसा है। इसी प्रकार सामान्यतः (1) क्रोध से रहित होना क्षमा है, (2) मान से रहित होना मार्दव है, (3) माया से रहित होना आर्जव है, (4) लोभ से रहित होना शौच है, (5) मिथ्या से रहित होना सत्य है, (6) इन्द्रियों का दमन करना और प्राणियों की रक्षा करना संयम है, (7) इच्छा/तृष्णा/कामना से रहित होना तप है, (8) अंतरंग लोभ त्याग सहित बाह्य भौतिक वस्तुओं का विसर्जन करना त्याग है, (9) समस्त अंतरंग एवं बहिरंग परिग्रहों का त्याग करना आंकिचन्य है, (10) स्व आत्म द्रव्य में रमण करना ब्रह्मचर्य है। उपर्युक्त वर्णन से सिद्ध होता है कि अहिंसा में पाँचों व्रत एवं दसों धर्म प्रत्यक्ष परोक्ष रूप से अर्न्तसंबधित हैं, प्रकारान्तर से कहे तो अहिंसा/समता/पवित्रता/आध्यात्मिकता ही अहिंसादि पाँच व्रत है तथा उत्तम क्षमादि 10 धर्म हैं। सारांश रूप से कहा जाए तो क्रोधादि वैभाविक भावों को त्याग करना ही अहिंसादि पाँच व्रत हैं एवं 10 धर्म हैं। क्रोधादि भाव सहित केवल बाह्य पाँच व्रत या पर्युषण पर्व के क्रियाकाण्डों से धर्म नहीं होता है। निम्न में दसों धर्म की समीक्षा दी गई है -

1) **उत्तम क्षमा** :- सापेक्ष दृष्टि से क्रोध के अभाव से तथा समग्र दृष्टि से समस्त प्रमाद के त्याग से उत्तम क्षमा होती है। सम्पूर्ण जीवों के प्रति क्षमा/अवैरत्व भाव से युक्त मित्रता/समता भाव से सहित होना उत्तम क्षमा है न कि केवल क्षमा धर्म की पूजा करना, प्रवचन करना-सुनना, क्षमावाणी पर्व मनाना, क्षमावाणी कार्ड बाँटना या केवल मित्रों से क्षमा माँगना और विधर्मी या अन्य धर्मों अथवा स्वधर्मों के भी भिन्न मतवालों से वैरत्व रखना।

2) **उत्तम मार्दव** :- सापेक्ष दृष्टि से मान से रहित होना तथा समग्र दृष्टि से सम्पूर्ण प्रमाद से रहित होना उत्तम मार्दव है। गुण, गुणी, गुरुजनों के प्रति नम्रता, छोटों के प्रति प्रेम, प्रत्येक जीवों के प्रति मित्रता, दुःखी जीवों के प्रति करुणा तथा विपरीत वृत्ति वालों के प्रति साम्य व्यवहार करना ही इसका प्रायोगिक रूप है। इसे ही आध्यात्मिक विनय या उत्तम मार्दव कहते हैं। केवल मार्दव धर्म की पूजा आदि करना या 1) काम विनय 2) अर्थ विनय 3) स्वार्थ विनय 4) भय (सुरक्षा) विनय करना विनम्रता नहीं है।

३) **उत्तम आर्जव** :- मायाचारी के अभाव से यथार्थ से कहें तो 15 प्रमाद के अभाव से जो जीव का सरल-सहज पवित्र भाव होता है, उसे ही उत्तम आर्जव/सरलता धर्म कहते हैं। किसी के प्रति भी किसी भी प्रकार के कूट-कपट, धोखा-धडी, मिलावट, न्यूनाधिक लेन-देन करना आदि से रहित भाव एवं व्यवहार ही उत्तम आर्जव है। केवल आर्जव धर्म की पूजादि करके यदि दुकान, कार्यालय, व्यवहार में

मायाचारी, व्यापार की कला/कुशलता के नाम पर करते हैं तो वह स्वयं के प्रति, आर्जव धर्म के प्रति ही मायाचारी है।

4) **उत्तम शौच** :- लोभ/तृष्णा या भाव हिंसा के अभाव से उत्तम शौच धर्म होता है। इस भाव से युक्त व्यक्ति निर्लोभी, संतोषी तथा चोरी, डकैती, मिलावट, शोषण, परिग्रह संचय नहीं करेगा। गृहस्थापेक्षा न्याय, पुण्य, पुरुषार्थ से जो धनादि उपार्जन करेगा उसे स्व-पर हित के लिए विसर्जन करेगा। शौच धर्म की पूजा करने वाले - सुनने वालों को उपर्युक्त पैमाने पर माप कर विश्लेषण करना चाहिए।

5) **उत्तम सत्य** :- परम स्व-सत्य की उपलब्धि के लिए जो मन-वचन-काय-कार्य से उपर्युक्त चारों धर्म से युक्त होता है उसको उत्तम सत्य धर्म की प्राप्ति होती है। सत्य ही सार्वभौम, शाश्वतिक, सर्वाधार होने से इसे केवल पूजा-पाठ, धर्मस्थल, विद्यालय, मत-पंथ, ग्रंथ, भौतिक विज्ञान, रीति-रिवाज आदि में आबद्ध करना मानो आकाश को मुठ्ठी में आबद्ध करना है, जो तेरा-मेरा, संकीर्णता, भेद-भाव, राग-द्वेष, मोह-माया, कूट-कपट, धोखा-धडी, मायाचारी, शोषण, भ्रष्टाचार, फैशन-व्यसन, आडम्बर, दिखावा आदि से युक्त है वह सत्य से अति दूर है।

6) **उत्तम संयम** :- इंद्रियों को दुष्प्रवृत्ति से रोककर उसे सत्प्रवृत्ति में लगाना, जीवों की रक्षा करना, मन को पवित्र एवं एकाग्र करना, मौन धारण करना या हित-मित-प्रिय बोलना, समय-शक्ति-साधन-धन-ज्ञान आदि का समुचित उपयोग करना उत्तम संयम धर्म है अन्यथा संयम धर्म की पूजादि व्यर्थ है जब उपर्युक्त गुण नहीं है।

7) **उत्तम तप** :- इच्छा/आकांक्षा/तृष्णा/आसक्ति को त्यागकर आत्मा को शुद्ध/पवित्र करने के लिए प्रयत्न करना उत्तम तप है। केवल कुछ भोजन-पानी का त्याग करना तपाभास/कुतप है। यदि भोजनादि त्याग उपर्युक्त त्याग के लिए कारण बनता है तो बाह्य तप है, तप साधक है, न कि यथार्थ पूर्ण तप है। तप के विज्ञापन के लिए पत्रिकाओं के द्वारा प्रचार, धातु के बर्तन वितरण, श्रृगांर, विकथा आदि तप को विकृत करते हैं। क्रोधादि तो तप को पतन के रूप में परिवर्तित कर देते हैं।

8) **उत्तम त्याग** :- स्व-पर कल्याणार्थ अन्तरङ्ग परिग्रह के साथ-साथ बाह्य परिग्रह का विसर्जन करना या सदुपयोग करना उत्तम त्याग है। त्याग से किसी भी भौतिक उपलब्धि की भावना त्याग भावना के त्याग के कारण बनती है। नाम, प्रसिद्धि, भौतिक उपलब्धि, दिखावा की प्रवृत्ति, दूसरों को नीचा दिखाने की प्रवृत्ति वस्तुतः उत्तम त्याग नहीं है।

9) **उत्तम आकिञ्चन्य** :- स्व शुद्ध आत्मस्वरूप रूपी कैवल्य, आत्म निर्भर,

आनन्त वैभव ही उत्तम आकिञ्चन्य धर्म है न कि दीनता-हीनता, असह्यता, गरीबी अवस्था।

10) **उत्तम ब्रह्मचर्य** :- अनन्त-अक्षय-सच्चिदानन्द स्वरूप स्व-शुद्ध परंब्रह्म में रमण करना उत्तम ब्रह्मचर्य है। न कि केवल शारीरिक मैथुन त्याग। शारीरिक ब्रह्मचर्य सहित भी जो उपर्युक्त प्रमाद/हिंसा भाव से युक्त है या फैशन-व्यसन से युक्त है, वह उत्तम ब्रह्मचारी नहीं हैं।

वस्तुतः जो यथायोग्य मिथ्यात्व, कषाय, विकथा, इंद्रियों की दुष्प्रवृत्ति रूपी प्रमाद/हिंसा/अन्तरङ्ग शत्रु के ऊपर विजय प्राप्त करने वाले यथार्थ जैनियों/जैन समूह-समाज (सम्यग्दृष्टि - चतुर्थगुणस्थानवर्ती से ऊपर) में तो उपर्युक्त समस्त-गुण-धर्म यथायोग्य होते ही है अर्थात् उपर्युक्त समस्त गुण-धर्म के कारण ही किसी भी जीव (मनुष्य, पशु-पक्षी, देव-नारकी) की संज्ञा 'जैन' होती है जोकि गुण परक है, न कि नाम परंपरा परक है। उपर्युक्त वर्णन में जो विधिपरक वर्णन है वह तो यथार्थ जैनियों के लिये है परंतु जो निषेध/दुर्गुण दोष कारक प्रवृत्ति का वर्णन है वह नामधारी जैनियों के लिए है। अहिंसा, सत्य, समता, क्षमादि भाव आत्मा के स्वभाविक शुद्ध धर्म होने से विश्व के कोई भी जीव जब कभी भी उन भावों को धारण करता है तब वह जैनी/धार्मिक होता है, अतः जैन धर्म जीवधर्म/विश्व धर्म है। अतः यह धर्म किसी भी गति, जाति, देश, पंथ-मत, काल पर्व आदि की संकीर्ण सीमायें आबद्ध नहीं है। उपर्युक्त कसौटी पर कसकर के प्रत्येक जीवों को स्व-परीक्षण, आत्म विश्लेषण करना चाहिये कि वस्तुतः मैं कितने अंश में सच्चे धर्म का अनुयायी हूँ और कितने अंश में विमुख हूँ। ''वन्दे तद्गुण लब्धये'' के अनुसार किसी भी भगवान्, गुरु, धर्म प्रर्वतक, पर्व आदि की प्रार्थना, पूजा, आराधना तब सार्थक होती है जब उसके उत्तम नैतिक एवं आध्यात्मिक गुणों को जीवन में अपनाया जाता है।

-: अमृतानुभव :-

जिस प्रकार चक्षु अमूर्तिक अनन्त आकाश में स्थित कुछ सीमित भौतिक वस्तु के वर्ण-आकार तथा गति-विधियों को ही देख सकती है उसी प्रकार भौतिक रुचि-बुद्धि केवल भौतिक तत्त्व को ही जानती है, मानती है न कि भौतिक शरीर में निहित अभौतिक, अध्यात्मिक अनन्त गुण-धर्म, वैभव, शक्ति-सम्पत्ति को। अतः ऐसे जीव उस अनन्त आध्यात्मिक गुणादि के बारे में न जानते हैं, न मानते हैं, न उसे प्राप्त करने के लिए प्रयास ही करते हैं।

भारत की दिशा-दशा-आशा 2015

अतीत से शिक्षा लेकर वर्तमान के सत्पुरुषार्थ के माध्यम से भविष्य को आदर्श, उन्नत, सुख-शांति से सम्पन्न बनाना प्रत्येक सुखेच्छुक मनुष्य का उद्देश्य होता है। भूत के कर्तव्य/कर्म/भाव/संस्कार रूपी बीज से वर्तमान रूपी भाव/पुरुषार्थ अङ्कुर बनता है जिससे भविष्य में फल प्राप्त होता है। अर्थात् भूत का पुरुषार्थ/कार्य ही वर्तमान का भाग्य है और वर्तमान का पुरुषार्थ ही भावी-भाग्य है। यह कार्यकारण सिद्धान्त व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र से लेकर विश्व तक में कार्य करता है। इस दृष्टि से हमें संदर्भ विषय में भी देखना चाहिए और तत् संबंधी विचार/निर्णय/अनुमान/गणित करना चाहिए। वैसे तो उसका सम्पूर्ण सत्य तथ्य परक निर्णय सर्वज्ञ कर सकते हैं तो कुछ अंश में मन:पर्यय ज्ञानी, अवधिज्ञानी, अष्टांग निमित्त ऋद्धि सम्पन्न मुनि भी कर सकते हैं। हम छद्मस्थ/अल्पज्ञ इसका पूर्ण सही निर्णय नहीं कर सकते हैं तथापि आगम, अनुमान, कार्य कारण सिद्धान्त, कर्म सिद्धान्त, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव रूपी चतु:आयाम सिद्धान्त के माध्यम से अनुभव, स्वप्न, शकुन के आधार पर तथा वैश्विक परिदृश्य से यत्किञ्चित् कल्पना/विचार मैं इस निबन्ध में प्रस्तुत कर रहा हूँ। विशेष जिज्ञासु मेरी (आ. कनकनंदी) 1) भारत को गारत तथा महान् भारत बनाने के सूत्र 2) भारत के सर्वोदय के उपाय 3) भारत को पुन: विश्वगुरु बनाने के लिए समग्र क्रांति चाहिए आदि कृतियों का अध्ययन करें। सुनिश्चित् लक्ष्य निर्धारण पूर्वक तदनुकूल पुरुषार्थ से ही हम उस लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं।अत: भविष्य का लक्ष्य निर्धारण हमारी प्रथम आवश्यकता है। वैसे तो प्रत्येक जीव का परम अन्तिम लक्ष्य स्वात्मा का परम सार्वभौम, अनन्त, अक्षय विकास स्वरूप परिनिर्माण/मोक्ष/स्वात्मोपलब्धि है। इस परम लक्ष्य को केंद्र में करते हुए जो कुछ कार्य किया जाता है, उससे मोक्ष प्राप्ति के पहले-पहले सांसारिक वैभव, सुख, प्रसिद्धि, विकास आदि प्राप्त होना स्वाभाविक है। क्योंकि बडी संख्या में छोटी संख्या, लम्बी दूरी में छोटी दूरी, बडा आकार में छोटा आकार, बडे छेद में छोटा छेद स्वाभाविक रूप से अन्तर्निहित है। बडी दूरी को पार करने से पहले छोटी दूरी को पार करना स्वाभाविक हो जाता है। इसलिए कहा है- **'यस्मात् अभ्युदय निश्रेयस्य सिद्धि: स धर्म:'**। जिससे स्वर्गादि का अभ्युदय सुख एवं निर्वाण रूपी परम सुख की सिद्धि होती है, उसको धर्म कहते हैं।

धर्म:सर्व सुखाकरो हितकरो धर्मं बुधाश्चिन्वते।
धर्मेणैव समाप्यते शिवसुखं धर्माय तस्मै नम: ।।

धर्म शारीरिक, मानसिक, भौतिक तथा आध्यात्मिक सुख को देने वाला है

तथा सम्पूर्ण प्रकार के हित को करने वाला है। धर्म से ही शाश्वतिक (शिव) मोक्ष सुख प्राप्त होता है इसलिए धर्म को नमन करता हूँ। यथार्थ धर्म के परिपालन से उपर्युक्त समस्त सुख प्राप्त होते हैं परंतु केवल सांसारिक, लौकिक, भौतिक सुख के लिए धर्म का सेवन करना भी पतन के लिए परम्परा से कारण है। क्योंकि ऐसे दूषित संकीर्ण परिणाम से जो पापानुबंधी पुण्य बंध होता है उससे जो वैभवादि प्राप्त होते हैं उससे जीव और भी अहंकारी, धर्मद्रोही, विध्वंसकारी, आडम्बरी, फैशनी एवं व्यसनी बन जाता है। उस पुण्य से व्यक्ति भले ही सभ्य, शिक्षित, साधन सम्पन्न बन जायेगा परंतु वह साधन सम्पन्न होते हुए भी धार्मिक बनकर आध्यात्मिक, सुसंस्कृत, संस्कारवान् बनने के बदले में इन साधनों का दुरुपयोग करने वाला बन जायेगा जैसा कि रावण, कंस, हिटलर से लेकर आधुनिक अधिकांश सभ्य, शिक्षित, साधन सम्पन्न व्यक्ति करते हैं।

1) 2015 तक कुछ आर्थिक, भौतिक एवं शैक्षिक विकास की आशायें-

A. वर्तमान के वैश्विक परिदृश्य से यह आभास होता है कि विश्व के साथ-साथ भारत का विकास 2015 तक आर्थिक, शैक्षणिक, टेक्नॉलोजी, साधन सम्पन्नता में विकास होने की सम्भावना है। इसके कारण है विज्ञान, टेक्नॉलोजी के नये-नये सिद्धान्त, प्रयोग एवं अविष्कार। इसके साथ-साथ परिवहन एवं दूरसंचार व्यवस्था भी इसमें से एक कारण है। इसके कारण केवल आर्थिक विकास ही नहीं होगा परंतु शैक्षणिक विकास भी होगा। शैक्षणिक विकास के अन्य कुछ कारणों में से सरकार का प्रयास, प्रोत्साहन, सहयोग, सामाजिक-राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय डिमाण्ड के साथ-साथ शिक्षा प्राप्त करना एक रुढी परम्परा, स्टेटस् सिम्बल, सामाजिक प्रतिष्ठा, नौकरी प्राप्त करने का साधन एवं शादी-विवाह, लेन-देन करने का अनिवार्य शर्त बनता जा रहा है।

B. नैतिक एवं चारित्रिक पतन की आशायें-

उपरोक्त विकास, विकास के लिए कम कारण बनेगा परंतु फैशन-व्यसन, उत्श्रृंखलता, अहंवृत्ति, अनुशासन विहीनता, असामाजिकता, अप- संस्कृति के लिए कारण बन करके विनाश के लिए कारण बनने की अधिक संभावना है। क्योंकि वर्तमान परिस्थिति से हम कुछ भविष्य का अनुमान लगा सकते हैं। मेरे दीर्घ 45 वर्ष के 16 प्रदेशों के हजारों ग्रामों से लेकर महानगरों के लाखों व्यक्तियों के अध्ययन से जो मुझे अनुभव हुआ उसके निष्कर्ष से मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि अधिकांश व्यक्ति आर्थिक, शैक्षिक एवं नगरीकरण के कारण सुसंस्कृत, संस्कारवान्, धार्मिक,

आध्यात्मिक, परोपकारी कम बनते हैं, परंतु फैशन-व्यसन आदि उपरोक्त दुर्गुणों को अधिक अपनाते हैं।

2) वैज्ञानिक आध्यात्मिकता में विकास- **मेरे देश-विदेश के विभिन्न साहित्यों के अध्ययन तथा देश-विदेश के विभिन्न व्यक्तियों के सम्पर्क, चर्चा तथा शोध-बोध के आधार पर मेरा यह अनुभव है कि वर्तमान में उच्च-उदार विचार सम्पन्न, वैज्ञानिक, गणितीय बुद्धि सम्पन्न व्यक्ति सामान्य धार्मिक व्यक्ति से भी अधिक सुसंस्कृत, संस्कारवान्, उदार, प्रगतिशील, सहिष्णु आदि गुणों से युक्त होते हैं।** नई पीढी में भले कुछ फैशन-व्यसन आदि की दुष्प्रवृत्ति पाई जाती है तथापि नई पीढी पूर्व पीढी से अधिक उदार, सहिष्णु और कम झगडालु है। वे धर्म, जाति, पंथ, परम्परा को लेकर भेद-भाव, लडाई-झगडा कम करना चाहती है। इसलिए पहले जिस प्रकार पंथ, परंपरा को लेकर कटुता थी वह कटुता धीरे-धीरे कम होती जा रही है। इतना ही नहीं आज सभी साधु स्कूल, कॉलेज, विश्व विद्यालय, जेल, अन्य धर्मों के कार्यक्रमों में जाकर भाग लेते हैं एवं पर धर्मावलम्बी साधुओं को भी स्व कार्यक्रमों में सस्नेह बुलाते हैं व एक मंचपर बैठकर प्रवचनादि सम्पन्न हो रहे हैं।

उपर्युक्त अच्छाईयों की वृद्धि 2015 तक और भी अधिक होने की सम्भावना है। इतना ही नहीं भारतीय संस्कृति एक उदारवादी, अनेकान्तात्मक, सर्वजीव हितकारी, सर्वजीव सुखकारी, गाणितीय, वैज्ञानिक धर्म होने से तथा आज वैश्विक मंच भी उपर्युक्त गुणों को महत्व देने के साथ-साथ स्वीकार करने से 2015 तक भारतीय संस्कृति बहुअंश में विश्व में उदारवादी, वैज्ञानिक विचारधारा वाले व्यक्तियों में फैल जायेगी। जिसका शुभारम्भ कुछ अंश में दूसरों ने भी किया है और मैं भी कुछ अंशों में प्रायोगिक रूप में कर रहा हूँ।

3) शिक्षा चारित्र आदि में परिवर्तन की सम्भावना - कटु अनुभव एवं वैज्ञानिक शोध-बोध-आविष्कार के कारण शिक्षा, चारित्र आदि में परिवर्तन की सम्भावना है जिसका शुभारम्भ हो गया है भले उसकी परिस्थिति नगाडे की आवाज में तुती जैसी है। वर्तमान की शिक्षा मैकाले की शिक्षा पद्धति से दिग्भ्रमित है तथा भारतीयों के आचरण पाश्चात्य अन्धानुकरण के साथ-साथ हीरो-हीरोइन की अप-संस्कृति से विकृत है परंतु निष्पक्ष, सत्यग्राही वैज्ञानिक अनुसंधान से भारतीय शिक्षा, संस्कृति, परम्परा, भोजन, भाषा, परिधान आदि श्रेष्ठ सिद्ध होता जा रहा है। इसी से भारत की शिक्षा एवं आचरण में परिवर्तन अभी प्रबुद्ध वैज्ञानिक, प्रगतिशील विचार सम्पन्न भारतीयों में हो रहा है; उनकी भारतीय पूर्व शिक्षा, संस्कृति, भाषा आदि के प्रति

आस्था बढती जा रही है और इस के वृद्धि की पूर्ण सम्भावना है क्योंकि इसका सुपरिणाम भी प्राप्त होता जा रहा है। यथा - योग (ध्यान), शाकाहार, प्रार्थना, परोपकार, अहिंसा (पर्यावरण की सुरक्षा), सुती वस्त्र, भारतीय भोजन, भारतीय भाषा यथा- संस्कृत, प्राकृत आदि, प्राकृतिक संसाधन सामग्री (हर्बल), घर का शुद्ध देशी भोजन, भारतीय सामाजिकता, संयुक्त परिवार, अतिथि सत्कार, आयुर्वेद, सेवाभाव, आध्यात्मिकता आदि आदि।

मेरा अनुभव है कि वर्तमान में कुछ बुराई के लिए आधुनिक शिक्षा एवं विज्ञान उत्तरदायी है तो उपर्युक्त अच्छाइयों के लिए भी आधुनिक शिक्षा एवं विशेषत: विज्ञान उत्तरदायी है। वैज्ञानिक अनुसंधानों से संकीर्णता, रुढीवादीता, अंधविश्वास, धार्मिक कट्टरता, धर्म के नाम पर हिंसा, अन्याय, अत्याचार, शोषण, बलात्कार आदि घटते जा रहे हैं। क्योंकि वैज्ञानिक अनुसंधानों से कार्यकारण सिद्धान्त, अनेकान्त सिद्धान्त, पारिस्थितिकी, पर्यावरण सुरक्षा के सूत्र प्राप्त हुए जिससे उपर्युक्त अच्छाइयों के साथ-साथ वैज्ञानिक उपकरणों से 2015 तक और भी अधिक प्रदूषण, हत्या, युद्ध, आतङ्कवाद, भ्रष्टाचार, बलात्कारादि बढने की सम्भावना है यदि नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास वैज्ञानिक उपकरण के विकास के साथ-साथ समानुपात में ना हो या अधिक न हो तब। इस आध्यात्मिक एवं नैतिक विकास के लिए भारतीय संस्कृति और उसमें से फिर जैन संस्कृति का योगदान सबसे महत्वपूर्ण है और होना चाहिए। इसके लिए हमें स्वयं नैतिक, आध्यात्मिक, सहिष्णु, उदारवादी, संगठन प्रेमी होना पडेगा। क्योंकि महावीर भगवान् ने कहा है-

आदहिदंकादम्वं यदिचेत् परहिद कादवम्।
आदहिद परहिदादो आदहिदं सुट्ठुकादवम् ।।

अर्थात् पहले आत्महित करना चाहिए। आत्महित के साथ-साथ परहित करना चाहिए। परंतु इन दोनों में से पहले आत्महित करना चाहिए क्योंकि जिस प्रकार जो दीपक स्वयं प्रकाशित होता है वह दूसरों को प्रकाशित करता है और दूसरे दीपकों को प्रज्ज्वलित कर सकता है। बुझा हुआ दीपक न दूसरों को प्रकाशित कर सकता है और न दूसरे दीपक को प्रज्ज्वलित कर सकता है। इस दृष्टि से सबसे पहले भारतीयों को स्वसंस्कृति का ज्ञान, स्वाभिमान, आचरण करना आवश्यक ही नहीं अपितु अनिवार्य है। किंतु वर्तमान का प्रायोगिक अनुभव है कि अधिकांश भारतीय लोग न तो स्वयं स्व-धर्म ग्रंथों को पढते हैं और न स्व-बच्चों को एवं परिवार को पढाते हैं। लौकिक शिक्षा, अंग्रेजी की शिक्षा स्वयं प्राप्त करते हैं एवं बच्चों के लिए लाखों रूपया खर्च

करके देश-विदेश में शिक्षा प्रदान कराते हैं। वह भी मुख्यत: वाणिज्यिक, व्यवसायिक शिक्षा जो अर्थोपार्जन व नौकरी के लिए सहकारी हो। आधुनिक विज्ञान व गणित की शिक्षा भी कम प्राप्त करते हैं। इसलिए 2015 तक भारतीयों को श्रेष्ठ, ज्येष्ठ सम्पन्न बनने के लिए स्व-धर्म, संस्कृति के अध्ययन के साथ-साथ आधुनिक विज्ञान एवं गणित का अध्ययन करना चाहिए। क्योंकि आधुनिक विज्ञान प्राय: भारतीय संस्कृति, सिद्धान्तों के अनुसार आगे बढ रहा है। प्रकारान्तर से आधुनिक विज्ञान भारतीय संस्कृति को प्रायोगिक, वैज्ञानिक, वैश्विक रूप प्रदान कर रहा है। और भी एक महत्वपूर्ण कार्य भारतीयों को करना चाहिए वह यह है कि - स्व-अनेकान्त सिद्धान्त, स्याद्वाद पद्धति, शाकाहार, निर्व्यसन, विश्वमैत्री, विश्वप्रेम, साधर्मीवात्सल्य, स्व-पर प्रभावना, उपगूहन, स्थितिकरण आदि सिद्धान्तों को स्वीकार करना केवल आवश्यक ही नहीं किंतु अनिवार्य भी है। इसके आधार पर ही 2015 का विनाश या विकास आधारित है।

6वीं अन्तर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक संगोष्ठी 2004 (तेरहपंथी भवन–उदयपुर) में पिच्छी परिवर्तन का एक दृश्य–आ. कनकनन्दी ससंघ, आ. कुशाग्रनन्दी ससंघ तथा मुनि तीर्थनन्दी ससंघ

यदि भारत का महानायक ऐसा हो तो क्या हो ?

मनुष्य एक अनुकरणशील सामाजिक प्राणी है। **''महाजना येन गता स पंथा''** के अनुसार वह जिसे महान्/श्रेष्ठ/सुपर हीरो मानता है उसको अपना नेता/आदर्श/पूजनीय/अनुकरणीय/पथप्रदर्शक मानता है और उसकी हर गति-विधियों का अनुकरण करके उनके जैसे बनने की कोशिश करता है। जो ईश्वर, भगवान्, अल्ला/God, तीर्थङ्कर, साधु-संत, धर्म प्रचारक आदि को आदर्श मानते हैं वे उनकी पूजा, आराधना, ध्यान, स्तुति, प्रार्थना आदि करते हैं और **'वन्दे तद्गुणलब्धये'** के अनुसार उनके आदर्श गुणों को अपनाते हुए **'शिवं भूत्वा शिवं यजेत्'** के अनुसार स्वयं आदर्शमय बनकर आदर्श पुरुष की पूजा, प्रशंसा, प्रार्थनादि करते हैं। यह तो आदर्श/उज्ज्वल पक्ष है। परंतु **'अज्ञानोपास्तिरज्ञानम्'** के अनुसार जो अनादर्श/अज्ञानी/भ्रष्ट आदि की पूजा करते हैं वे भी वैसा ही अनादर्श बनेंगे। क्योंकि जिसकी जैसी रुचि/भावना होती है वह तदनुकूल व्यक्ति को वह अपना आदर्श/रोल मॉडल/नेता मानता है और जो जिसको अपना आदर्श मानेगा वह उसकी प्रशंसा करेगा, उसके अनुसार सोचेगा, बोलेगा, खायेगा-पीयेगा, वेश-भूषा धारण करेगा। "AS you think so you become." के अनुसार सोच रूपी सांचा में स्वयं ढलते जायेगा।

प्राचीन काल में भारत में तो साधु-सन्त, सज्जन, बुद्ध, तीर्थङ्कर आदि आदर्श महानायक होते थे। इसलिए तो सामान्य जन से लेकर चक्रवर्ती सम्राट तक साधु-संत के चरण स्पर्श के माध्यम से यह संकेत देते थे कि हम आपके आचरण चाहते हैं। इतना ही नहीं इस भावना से भावित होकर प्राय: वे स्वयं तदनुकूल आचरण भी करते थे। यथा - भारत के प्रथम चक्रवर्ती भरत प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव के भक्त थे और आगे जाकर ऋषभदेव के जैसे संत बने। इसी प्रकार सम्राट चंद्रगुप्त मौर्य राजनैतिक गुरु कौटिल्य चाणक्य तथा आध्यात्मिक गुरु श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु स्वामी के भक्त थे तथा आगे जाकर निग्रंथ श्रमण (साधु) बने। अन्य उदाहरण में समर्थ रामदास के शिष्य छत्रपति शिवाजी, रायचंद के भक्त महात्मा गांधी, आचार्य महाप्रज्ञ के भक्त डॉ. कलाम आदि। परंतु वर्तमान में भारत के आदर्श के मापदण्ड प्राय: विपरीत है। यथार्थ से कहे तो भारत में अभी आदर्श के बदले में अनादर्श ही अपना महानायक/रोल मॉडल है। स्पष्टता से कहे तो भ्रष्ट, अश्लील, नशाखोर, राष्ट्रद्रोही, कामुक, फैशनी-व्यसनी, अण्डरवर्ल्ड/आतंकवादी या उनके सहयोगी, कुसंस्कारी, संस्कृति के दुश्मन हीरो-हीरोईन (जीरो जीरोईन/नट-नटी) को भारत के लोग आदर्श मानते हैं भले वे

किसी भी धर्म के, पंथ के, मत के अनुयायी हो या साक्षर हो या निरक्षर अथवा ग्राम के हो या नगर के हो, धनी हो या गरीब अथवा विद्यार्थी हो या शिक्षक हो। इतना ही नहीं आजकल तो ऐसे महानायक के बिना न शादी-विवाह के कार्यक्रम होते हैं न तो धार्मिक आयोजन में भीड जुडती है, न तो चुनाव में सफलता मिलती है। आज वे सर्वव्यापी, सर्वेसर्वा सबके चहेते हैं। वे जो बोलते हैं वह दूसरों के लिए आदर्श वाक्य बनते हैं; वे जो करते हैं वह दूसरों के लिए अनुकरणीय बनता है, वे जो खाते-पीते हैं वह सब दूसरों के लिए खाने पीने के मापदंड/मेन्यूचार्ट बनता है, उनका रहन सहन, वेशभूषा दूसरों के लिए जीवन शैली तथा युनिफार्म/गणवेश बन जाता है।

इनके सबसे अधिक अंधभक्त, दीवाने, स्वयं को मॉडर्न, बोल्ड मानने वाले, बताने वाले, दिखावा करने वाले विद्यार्थी, विद्यार्थीनी हैं। वे माता-पिता, गुरुजन, गुणीजन, विद्वान्, वैज्ञानिक, राष्ट्रभक्त, साधु-संत, शिक्षक आदि का तो अनादर करते हैं, उनके हितोपदेश न सुनते हैं, न मानते हैं, न अनुकरण करते हैं, न सेवा करते हैं परंतु वे ऐसे नीच हीरो हीरोईन को मानते हैं, उनके जैसे बोलना, चलना, पहनना, खाना-पीना आदि करते हैं। इसलिए तो ऐसे विद्यार्थी फैशनी-व्यसनी, भ्रष्ट, आलसी, कुशील, चोर, लुटेरे, उत्श्रृंखल, भ्रष्टाचारी, अयोग्य, बेकार बनते हैं। क्योंकि उनका आदर्श नीच होने के कारण उनका उद्देश्य भी तदनुकूल होता है, जिससे उनकी बुद्धि, कोशीश, योग्यता, पढाई भी उसी प्रकार होती है।

शादी-विवाहादि में इनकी चमक-दमक, रौब-रौनक से समस्त वैवाहिक रीति-रिवाज, अतिथियों का आदर-सत्कार आदि सब धूमिल हो जाते हैं, काली छायारूप धारण कर लेते हैं। राजनैतिक चुनाव से लेकर संसद के कार्य में इनके बहुरूपियापने से नेता-अभिनेता एवं अभिनेता-नेता का व्यंगात्मक नाटक कर रहे हैं। इनकी धार्मिक कार्यक्रम में भागीदारी यथार्थ से धर्मनिरपेक्षता (धर्म से उपेक्षा तथा अधर्म से अपेक्षा) का ज्वलंत प्रायोगीककरण है। इनके विश्वरूप में राजनैतिक-सामाजिक-परमार्थिक-सेवा संस्थान के ब्रॉण्ड ॲम्बासेडर, हर अच्छी बुरी चीज में विज्ञापन, पल्स पोलिओ से लेकर एड्स बचाव के लिए नाटक बाजी में स्वयं की निर्लज्जता से लेकर प्रायोजक की अयोग्यता/अज्ञानता का विज्ञापन होता रहता है। अयोग्यता की पराकाष्ठा का नंगा नाच तब प्रकट होता है जब इनके कार्यक्रम या इन्हें देखने के लिए लोग **''सौ सौ घूसा खायेंगे घुस कर तमाशा देखेंगे''** को चरितार्थ करते हैं।

इसी प्रकार आधुनिक भारत के और भी अनेक महान् नेता भारत को गारत/

गर्त/नरक बनाने में अपनी भूमिका तत्परता से निभा रहे हैं। वे हैं - राजनेता, खेल नेता, खलनेता (कुख्यात व्यक्ति), नौकर शाह, माफिया डॉन, कानून के खिलाडी तथा इनके पोषक भ्रष्ट पूंजीपंति, शोषक व्यापारी, ढोंगी, धर्मध्वजी-धर्म के ठेकेदार, साक्षर राक्षस, आडम्बर पूर्ण जीवन एवं नीच विचार वाले आदि।

''बिन जानन ते दोष गुणन को कैसे तजिए गहिए'' को लक्ष्य में रखकर मैंने (आ.कनकनंदी) यह लेख लिखा है जिससे विश्वगुरु महान् भारत के लोग अपनी महान् संस्कृति, आध्यात्मिकता को जाने-माने-अपनायें और विकृति, अपसंस्कृति को त्याग कर महान् बने, आदर्श बनें तथा संस्कृति, सुख-शांति को प्राप्त करें।

-: अमृतानुभव :-

स्व-भाव की पवित्रता ही संस्कृति, धर्म, मोक्ष, ईश्वर प्राप्ति है परंतु मोही-अज्ञानी भाव की पवित्रता बिना संस्कृति, धर्म, मोक्ष, ईश्वर प्राप्ति चाहता है।

संस्कृत महाविद्यालय (गनोड़ा) के संस्कृत शिविर में उद्‌बोधन के पश्चात् महाविद्यालय के ग्रन्थालय के लिए स्वरचित साहित्य प्रदान करते हुए आ. श्री कनकनन्दी गुरूदेव

पीढ़ियों में अंतर, संघर्ष : कारण एवं निवारण

प्रत्येक गुण ,द्रव्य का स्वभाव परिणमनशील होने के कारण विश्व परिणमनशील है। इसलिए विश्व को संसार कहते हैं अर्थात् जो संसरण करे ,परिवर्तन करे उसे संसार कहते हैं । इसे जगत् भी कहते हैं। जगत् अर्थात् **''गच्छतीति जगत: ''** जो गमन करता है, आगे बढता है उसे जगत् कहते हैं । द्रव्य का स्वभाव परिणमनशील होने के साथ-साथ निश्चयकाल उस परिणमन के लिए सहकारी है तो, तो स्थूल परिणमन के लिए व्यवहार काल सहकारी है । दिन, रात, ऋतु, अयन, वर्ष, युग, कल्पकाल आदि व्यवहार काल है। अंतरंग एवं बहिरंग कारणों से ब्रह्माण्ड की हर गतिविधियाँ परिचालित होती हैं । जिस प्रकार बाह्यकाल आदि के निमित्त से बीज अंकुरित होकर वृक्ष बनता है और फल-फूल आते हैं फिर पुन: उस नवीन बीज से फल-फूल आदि की यात्रा प्रारम्भ होती है। नये कोपल पत्तियाँ बनती हैं तो पत्तियाँ परिपक्व होकर खिर जाती हैं। कोमल अवस्था में जो रंग, स्पर्श, गंध, आकार-प्रकार गुण धर्म होते हैं पत्ती अवस्था में उन रंग आदि में परिवर्तन होता है। उत्तरोत्तर पत्तियों के लिए पूर्व-पूर्व की कोपलें भी कारण हैं। पतझड में कुछ वृक्षों से परिपक्व पत्तियाँ गिर जाती हैं तो नवीन कोपल अंकुरित होकर पत्तियाँ बनती हैं और पत्तियाँ परिपक्व होकर पुन: गिर जाती हैं। इसी प्रकार परिवर्तन के चक्र से वृक्ष के अस्तित्व के साथ-साथ विकास संभव होता है। इसी प्रकार मनुष्य समाज रूपी वृक्ष में भी परिवर्तन होता रहता है। इतिहास, पुराण, नृवंश विज्ञान आदि के अध्ययन से तथा प्रायोगिक अनुभव से सिद्ध होता है कि परिवर्तनशीलता , प्रगतिशीलता मनुष्य समाज की एक प्राकृतिक स्वभाविक प्रक्रिया है। यह कभी न रुकती है, न कोई रोक सकता है परंतु द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार इस परिवर्तन को सही दिशा में गतिशील बना सकते हैं । जैन धर्म के अनुसार खरबों -अरबों वर्ष(असंख्यात वर्ष) पहले भोग भूमि की संरचना थी । उसके बाद दुखमा -सुखमा रूपी कर्मभूमि का आगमन हुआ । उसके बाद दुखमा रूपी कलिकाल या पंचमकाल का परिवर्तन चल रहा है। विज्ञान के अनुसार म्यूटेशन्स या उत्परिवर्तन के अनुसार मनुष्य में विभिन्न दीर्घकालीन (प्राय: 5 लाख वर्ष) परिवर्तन, महाहीम काल, अंतर हिम काल, प्रचीन पाषाण काल, नवीन पाषाण काल, धातु काल से लेकर प्राग् ऐतिहासिक काल से लेकर आधुनिक काल तक मनुष्य में भी परिवर्तन हुआ है। यथा- आष्ट्रेलोपिथीसाइन (दक्षिणी वानरा कृति जीव) पिथेकेनथ्रोपस इरेक्टस (द्विपाद) अर्थात् वानर मानव जो सीधा खडा होता है, गुहा मानव नीएंडरताल मानव तथा होमोसेपियन मानव से लेकर अभी 21 वीं शताब्दी के आधुनिक मानव का

विकास रूपी परिवर्तन हुआ है । इसी प्रकार भ्रूण विकास करता हुआ जन्म लेता है, शिशु बनता है, शिशु से किशोर, युवक, प्रौढ, वृद्ध बनता है और मरण को भी प्राप्त करता है। उपर्युक्त कारणों से नयी पीढी एवं पुरानी पीढी में अंतर होना स्वभाविक है। इतना ही नहीं एक ही मनुष्य में गर्भ से लेकर युवक, प्रौढ, वृद्ध, मृत्यु तक में शारीरिक, मानसिक, भावात्मक परिवर्तन होना भी स्वभाविक है और इस परिवर्तन में अंतर संघर्ष के साथ- साथ विकास एवं विनाश भी संभव है। उद्देश्य /पुरुषार्थ यदि सम्यक् हो तो जो परिवर्तन होगा वह परिवर्तन विकास के लिए होगा अन्यथा विनाश के लिए कारण बनेगा। उपर्युक्त समस्त विषयों को ध्यान में रखते हुए नयी एवं पुरानी पीढी के बारे में कुछ संक्षिप्त वर्णन निम्न प्रकार से कर रहा हूँ ।

''**पुराण मित्यैव न साधु सर्वं न च काव्यमिति अवद्यम्**'' अर्थात् Old is Gold नहीं है और जो कुछ New is not Bed है। जो गुणग्राही विज्ञ पुरुष होते हैं वे प्राचीनता व आधुनिकता को महत्त्व न देकर सच्चाइयों व अच्छाईयों को महत्त्व देते हैं एवं उसे स्वीकार करते हैं। आयु के अनुसार शारीरिक गतिविधियाँ, आवश्यकतायें होती हैं जिसके कारण व्यवहार में भी अंतर पड जाता है। इतना ही नहीं शारीरिक विभिन्न ग्रंथियों से जो विभिन्न प्रकार के स्राव होते हैं उससे भी व्यवहार प्रभावित होता है। इसके साथ- साथ पारिवारिक, सामाजिक आदि उत्तरदायित्व के अनुसार भी व्यवहार में भी परिवर्तन होता है। इसके साथ- साथ संस्कार/ पूर्वकर्म/ जीनोम/लक्ष्य, परिस्थिति, वातावरण आदि कारक भी भाव एवं व्यवहार को प्रभावित करते हैं। निम्न में आयु क्रम/अवस्था क्रमानुसार कुछ वर्णन कर रहा हूँ ।

1) शिशु -: शिशु के शरीर मन, आदि पूर्णत: परिपक्व न होने के कारण वह स्वेच्छा से उठना, बैठना, निर्णय लेना आदि कार्य नहीं कर पाता है इसलिए दूसरों का सहयोग लेता है। अधिक सोता है, लेट -लेटकर ही खेलता है, रोने एवं हँसने के माध्यम से भूख, प्यास, सर्दी-गर्मी, सुख-दु:ख आदि की अभिव्यक्ति करता है। जहाँ सोता है वही लघुशंका व दीर्घशंका भी करता है। उत्तर शिशु अवस्था में शिशु धूलि मिट्टी में खेलता है। हर चीज को छूता है, उठाता है, तोडता है ,जोडता है। यह उसके लिए योग्य होते हुए भी बडों के लिए योग्य नहीं है। तथापि बडों का यह सोचना व कहना गलत है कि यह शिशु जो कुछ करता है वह सब गलत है ,अयोग्य है। जब बडे भी शिशु थे तब वे इससे भी अधिक घृणित कार्य किये होगें या करने की संभावना है।

2) किशोर -: किशोर अवस्था में शारीरिक सक्रियता, आवश्यकता के अनुसार तथा जिज्ञासु प्रकृति के कारण वह उछल कूद शोर-शराबा, तोड-फोड, प्रश्न-प्रतिप्रश्न

अधिक करता है। इससे कुछ हानि होने पर भी प्राय: इस अवस्था में प्रत्येक मनुष्य से ऐसी क्रियायें होती हैं। उत्तर- किशोर अवस्था में जब यौन ग्रंथि सक्रिय होती है तब यौन अवयव में परिवर्तन/विकास होता है जिससे उसके व्यवहार में भी परिवर्तन होता है। इस अवस्था में फैशन-व्यसन एवं बिगडने की संभावना अधिक होती है।

3) युवक :- इस अवस्था में शारीरिक, मानसिक परिपक्वता के कारण जो कठिन कार्य शिशु, किशोर, प्रौढ, वृद्ध नहीं कर पाते हैं उन सब कार्यों को भी वह कर सकता हैं इसलिए युवक का यह सोचना गलत है कि शिशु आदि मेरे जैसे कार्य क्यों नहीं करते हैं ? वह भी जब शिशु था उस अवस्था में वह भी अन्य शिशु आदि के समान ही करता था और जब प्रौढादि होगा तब वह भी अन्य प्रौढादि के समान कार्य करेगा न कि युवक अवस्था के जैसे। इस अवस्था में विवाह बंधन के कारण पारिवारिक एवं सामाजिक उत्तरदायित्व अधिक हो जाते हैं जिससे वह पूर्व एवं अपर अवस्था से अधिक व्यस्त, क्रियाशील रहता है। पारिवारिक, सामाजिक परिपक्व अनुभव के बिना उसमें तनाव आदि भी संभव है। इस अवस्था में प्राय: अधिकांश व्यक्ति अर्थ एवं काम पुरुषार्थ में अस्त-व्यस्त एवं मदमस्त रहते हैं।

4) प्रौढ अवस्था :- इस अवस्था में पूर्व के खट्टे-मीठे अनुभवों के कारण उसके भाव एवं व्यवहार पूर्वावस्था से भिन्न होते हैं। इस समय में पारिवारिक, सामाजिक उत्तरदायित्व अधिक रहता है और इस सम्बन्धी अनुभव भी कुछ पूर्वावस्था से अधिक होता है। इससे इस अवस्था में अनुभव, निर्णय क्षमता, स्थिरता, समता, सहिष्णुतादि अन्य अवस्था से अधिक होने की संभावना है।

5) वृद्ध अवस्था :- इस अवस्था में शरीर-इंद्रियाँ, रोग प्रतिरोधक शक्ति दुर्बल हो जाती है जिससे कार्यक्षमता घट जाती है, विभिन्न रोग होने की संभावना भी रहती है। इन सब कारणों से वृद्ध अवस्था प्रायः शिशु अवस्था जैसी हो जाती है, परंतु शिशु अवस्था प्रवर्धमान/विकासोन्मुखी है तो वृद्ध अवस्था क्षीणता-उत्मुखी है। शिशु अवस्था में माता-पिता, परिवारजनों के सहयोग, स्नेहादि वृद्ध अवस्था से अधिक प्राप्त होता है। इस दृष्टि से शिशु अवस्था से वृद्धावस्था अधिक असहाय हो जाती है। इसलिए वृद्धावस्था में चिन्ता, उदासीनता, पीडा, निराशा, चिडचिडापन, असहिष्णुता, स्मृतिलोप आदि अन्य अवस्था से अधिक होती है।

समान द्रव्य-क्षेत्र-काल;भाव में अनेक समान द्रव्यों की क्रिया-प्रतिक्रिया समान ही होगी। जैसा कि समान किंतु पृथक्-पृथक् क्षेत्र-काल-चाप-ताप आदि के कारण पृथक्-पृथक् क्षेत्रस्थ पानी की अवस्था भी समान ही होगी। इस गहन सिद्धान्त

को स्पष्टीकरणार्थे कुछ उदाहरण प्रस्तुत कर रहा हूँ। यथा - प्राय: अनन्तानन्त निगोदियाँ जीव, नौवें गुणस्थानवर्ती जीव, तेरहवें गुणस्थानवर्ती केवली, अनन्तानन्त सिद्ध/शुद्ध जीवों के अन्तरङ्ग भाव समान ही होते हैं। परंतु अनेकान्तात्मक (सापेक्ष) दृष्टि से विचार करने पर सिद्ध होता है कि कुछ अशुद्ध द्रव्य में/अशुद्ध अवस्था में विशेष पुरुषार्थ से परिवर्तन/(सम्यक् पुरुषार्थ होने पर विकास होता है किंतु असम्यक् पुरुषार्थ से पतन/विनाश) होता है। उचित द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, शिक्षा, उपदेश आदि का सदुपयोग करने से अयोग्य भाव एवं व्यवहार में परिवर्तन होकर योग्य भाव एवं व्यवहार सम्भव है, परंतु इसके दुरुपयोग से भाव एवं व्यवहार में अच्छे परिवर्तन के बदले में बुरे परिवर्तन भी सम्भव है।

णाणा जीव णाणा कम्मं णाणाविहं हवे लद्धि।

अर्थात् अनेक प्रकार के जीव है। उनके कर्म/संस्कार/जीनोम-कोड अलग-अलग होने से उनके भाव अलग-अलग होते हैं जिससे उनके व्यवहार भी अलग-अलग होते हैं, परंतु उपर्युक्त संस्कार आदि को पुरुषार्थ के माध्यम से परिवर्तन भी किया जा सकता है। यदि ऐसा नहीं होता तो सब जीव कर्म के पूर्णत: गुलाम होकर कठपुतली के समान व्यवहार करते तब तो जीव कठपुतली के समान या रोबोट के समान या जडयंत्र के समान हो जाते जिससे सभ्यता, संस्कृति, ज्ञान-विज्ञान में भी परिवर्तन नहीं होता, विकास नहीं होता। इन सब विषयों को दृष्टिगत करके नई पीढी एवं पुरानी पीढी को सम्यक् पुरुषार्थ करना चाहिए, समन्वय करना चाहिए, विकास करना चाहिए न कि संघर्ष और विनाश। निम्न में इसका वर्णन कुछ सोदाहरण कर रहा हूँ।

सामान्यत: प्रायः पुरानी पीढी नई पीढी को भ्रष्ट मानती है तो नई पीढी पुरानी पीढी को तकियानुसी/रुढीवादी मानती है। परंतु दोनों पीढी के विचार संकीर्ण, एकाङ्गी एवं हठग्राहिता से युक्त है। यथा पुरानी पीढी के घर में शुद्ध भोजन करना, रात को नहीं खाना, पानी छानकर पीना, जमीकन्द नहीं खाना, होटल-बाजार का नहीं खाना, प्राकृतिक हल्दी, मिट्टी, मेहंदी, तेल, सूती-देशी वस्त्र का प्रयोग करना, भारतीय भाषा, सभ्यता, संस्कृति को अपनाना नई पीढी को सही नहीं लगता है। परंतु घर के शुद्ध भोजन आदि में जो तत्त्व है, शुद्धता है, मिठास है और स्वास्थ्य वर्द्धक गुण है उसे नई पीढी नहीं जानती है। यह नई पीढी का पिछडापन है, अनाडीपन है, अवैज्ञानिकता है। नई पीढी में जो जाति, मत, पंथ, परम्परा, रीति-रिवाज, भाषा आदि को लेकर जो भेद-भाव नहीं है उसे पुरानी पीढी सही नहीं मानती है परंतु यह नई पीढी की उदारता, व्यापकता, गुणग्राहीता, वैज्ञानिकता, विश्वबंधुत्व, बुद्धिमत्ता, एकता, समन्वय,

समभाव, एकात्मवादिता है। पुरानी पीढी के जो जल्दी सोना, जल्दी उठना, मन्दिर जाना, पूजा-पाठ करना, धार्मिक स्वाध्याय करना साधु-संत के प्रवचन में जाना, आहार देना, उनकी सेवा, वैयावृत्ति करना, उपवास, व्रत, मौन धारण करना, जाप करना, प्रार्थना स्तुति करना, सादा जीवन उच्च विचार रखना, माता-पिता की सेवा, रोगी-असहाय की सहायता, मृतक परिवार के यहाँ जाकर उन्हें सहयोग करना-सान्तवना देना, संयुक्त परिवार में रहना, माता-पिता, गुरुजनों की आज्ञा का पालन करना आदि को नई पीढी तकियानुसी, रुढीवादीता, अंधपरम्परा मानती है। परंतु यह तकियानुसी अंधपरंपरा नहीं है। यह सब कार्य प्राकृतिक, दैनिक जीवन चर्या है, जैविक घडी के अनुसार जीवन को व्यवस्थित करना है, मन को पवित्र करना एवं उन्नत बनाना है, आत्मा को शांति पहुँचाना है। सामाजिक, पारिवारिक, धार्मिक,सांस्कृतिक उत्तरदायित्व को पालन करके स्वयं एवं दूसरों को समुन्नत सुखी बनाना है। नई पीढी आधुनिक रटन्त साक्षर पढाई के कारण फैशन-व्यसन, टी.वी., सिनेमा, आलस्य प्रवृत्ति, अस्तव्यस्त दिनचर्या, महान् लक्ष्य विहीन जीवन के कारण उपर्युक्त पुरानी पीढी की अच्छाइयों को गलत मानती है। नई पीढी जो स्वधर्म, परधर्म, स्वमत-परमत, देश-विदेश के साहित्य, पत्र-पत्रिकाएँ, आधुनिक-वैज्ञानिक-समयोचित विषयों का अध्ययन करती हैं, जानकारी रखती है दूसरे धर्म, मत, पंथ के साधु संतों के प्रवचनों में जाती हैं, उनके पास जाती है, विदेश के वैज्ञानिक, आधुनिक उचित उपकरण का उचित प्रयोग करती हैं उसे पुरानी पीढी सही नहीं मानती है। पुरानी पीढी अपनी रुढीवादी, संकीर्णता, पंथवाद, मतवाद, जातिवाद, राष्ट्रवाद के कारण उपर्युक्त अच्छाईयों को नहीं जान पाती है, स्वीकार नहीं कर पाती है, परंतु उपर्युक्त गुण के कारण नई पीढी ज्यादा प्रगतिशील, उदार, सहिष्णु, अधिक जानकारी रखने वाली होती है।

उपर्युक्त गुणवत्ता, अच्छाईयाँ तथा गुणग्राहिता से युक्त कोई भी पीढी हो वह श्रेष्ठ है। जो ज्ञान, व्यवहार, चारित्र से वृद्ध होता है वह यथार्थ से वृद्ध होता है, पुरानी पीढी है ना केवल आयु अधिक होने पर ही पुरानी पीढी के हो जाते हैं। **जो प्रगतिशील है नवीन-नवीन ज्ञान व्यवहार से युक्त है वह नई पीढी के है न कि केवल आयु से कम होने पर या तत्कालीन बाह्य फैशन-व्यसन का अंधानुकरण करने वाला।** इस दृष्टि से प्रत्येक पीढी एक साथ नई पीढी भी हो सकती है और पुरानी पीढी भी हो सकती है। प्रगतिशीलता, उन्नत विचार, उन्नत कार्य ही जीवन है, नई पीढी है। इससे विपरीत मरण है, पुरानी पीढी है अर्थात् उपर्युक्त गुणों से रहित भूत है Out of date हैं और उपर्युक्त गुण से सहित जीवित है Up to date और Forword the

date है।

जिस प्रकार दो तट से युक्त नदी होती है और तट की मर्यादा में बहने वाली नदी उपकारी होती है परंतु एक तट से नदी सम्भव नहीं है और दोनों तट का उल्लंघन करके बहने वाली नदी उपकारी के बदले अपकारी होती है। उसी प्रकार मानव रूपी नदी का प्रभाव पुरानी एवं नई पीढी के मध्य में होता है। यदि दोनों में से कोई एक पीढी अयोग्य हो जाती है या मानव रूपी नदी का प्रवाह दोनों पीढी रूपी मर्यादा का उल्लंघन करके उत्शृंखल होकर बहता है तो वह मानव समाज के उपकार के बदले में अपकार ही होता है। नदी भी मर्यादा में बहती हुई उपकारी बने एवं नदी के तट से अन्य तट को पार किया जावे उसके लिए जिस प्रकार सेतु की आवश्यकता होती है उसी प्रकार दोनों पीढी को जोडने वाला गुणग्राहिता, समन्वय, सहिष्णुता, प्रगतिशीलता रूपी सेतु की आवश्यकता है। दोनों पीढी को एक साथ दर्जी की कैंची तथा सुई के समान व्यवहार करना चाहिए। जैसा कि कैंची से दर्जी कपडा (थान) को सम्यक् रूप से काट-छाँट करके सुई से उसे सिलाई करके पहनने योग्य बनाता है उसी प्रकार पुरानी एवं नई पीढी रूपी थान को प्रज्ञा रूपी कैंची से सम्यक् रूप से काट-छाँट करके (दोनों पीढी की गलतियों को एवं कमियों को निकालकर) समन्वय रुपी सुई से सिलाई करके सभ्यता-संस्कृति-आध्यात्मिकता रूपी परिधान का निर्माण करके, पहन करके **''सत्यं शिवं सुन्दरम्'' ''सच्चिदानंदम्''** बनना चाहिए।

इस समन्वय के अनेक उपायों में से एक श्रेष्ठतम, ज्येष्ठतम व्यापक उपाय यह है कि प्राचीन सभ्यता, संस्कृति, आध्यात्मिकता के साथ आधुनिक प्रगतिशील वैज्ञानिकता का सम्यक् समन्वय; जिसका शुभारम्भ वैज्ञानिकों ने कर दिया है। यह कार्य पाश्चात्य, प्रबुद्ध वैज्ञानिक सोच सम्पन्न व्यक्तियों ने प्रारम्भ किया है जिसका सुफल उन्हें प्राप्त हो रहा है। मैंने (आ. कनकनंदी) भी यह कार्य बाल्यकाल विद्यार्थी जीवन से प्रारम्भ किया है जिसका सुफल भी मुझे मिल रहा है। भारतीय संस्कृति विशेषत: जैन संस्कृति इसी कार्य के लिए सबसे अधिक सहयोगी सिद्ध हो रही है।

-: अमृतानुभव :-

अन्धकार को प्रकाश के बिना जैसे किसी लाठी के प्रहार से या पात्र में भरकर दूर/खाली नहीं किया जा सकता है उसी प्रकार आध्यात्मिक प्रकाश के बिना मोह-अज्ञान दूर नहीं किया जा सकता है।

vkgkj enk l yxrk g egkor e nk"k

¼vkgkj enk vkxekudy ;k ifrdy \½

vkgkj p;k d le; vkgkj enk ¼nk; gkFk dk nk; d/k e vxfy;k dk feykdj yxkuk½ yuk D;k vfuok; g\

mRrj %& eykpkj] Hkxorh vkjk/kukfn efu vkpj.k lc/kh ikphu xFkk e bldk o.ku ugh ik;k tkrk gA enk yu ij ,d gh oke gLr e fiPNh] deMy nkuk yu iMxA ft l yu e vlfo/kk d lkFk lkFk b;kiFk 'kf) dh j{kk Hkh i.kr% ugh gk ik;xh D;kfd jkLr e/ki l Nk;k e ,o Nk;k l /ki e io'k djr le; rFkk ,d idkj dh Hkfe l vU; idkj dh Hkfe e io'k djr le; fiPNh l i.k Lo&'kjhj dk ifjekt u djuk pkfg,A ;fn ,d gkFk e fiPNh] deMy nkuk g rk ifjekt u lE;d :i l ugh gk ldrkA Hkxorh vkjk/kuk e b;kiFk lfefr lc/kh xkFkk ¼1185½ dh Vhdk e dgk g fd lk/k ^ifoyfEcr Hkqt* vFkkr & nkuk Hkt k yVdkdj xeu djr gA bl gh xkFkk dh Vhdk e vkx dgk g & ^fo:) ;kfu lØe.k tkr ck/kk 0;nklk;—rkl—Rifry[ku* vFkkr & fo#) ;kfu oky ¼Nk;k l /ki ;k ,d o.k dh Hkfe l vU; o.k dh Hkfe dk fo#) ;kfu dgr gA D;kfd ble fo#) ;kfu oky tho gkr gA½ thok d e/; l tku ij mudk gku okyh ck/kk dk nj dju fy, fiPNh l viu 'kjhj dk ckj&ckj ifry[kuk djr g, xeu djr gA

'kf) fHk{k"k.kk—rkH iyfEcregkHkt kH A
vgÌÝkxg ikIrk HkkE;UrLr ;FkkfofhkAA 16 i- i-

tk 'k) fHk{kk xg.k dju d vfHkik; l ;Dr Fk vkj ftudh yEch&yEch Hkt k, uhp dh vkj yVd jgh Fkh] ,l o ¼llr _f"k½ fof/kiod Hke.k djr g, vgÌr lB d ?kj igpA

,"k.kk lfefr &

,l .kkf.kD[koknkf.kj;k lfenh rgk e.kkxÝkhA
vkyk;Hk;.k fo; vfgl k, Hkko.kk gkfrAA 1200

,"k.kk lfefr] vknku fu{ki.k lfefr] b;k lfefr] eukxflr vkj

vkykd Hkk tu ; ikp vfglkor dh Hkkouk gA

fHk{kkdky] cHk{kkdky vkj voxgdky ; rhu dky tkuuk pkfg,A ved eklk e xke uxjkfn e ved le; Hkk tu curk g] vFkok ved dy dk ;k ved egyk dk ved le; Hkk tu dk gA bl idkj bPNk d iek.k vkfn l fHk{kk dk dky tkuuk pkfg,A rFkk ejh Hk[k vkt eUn g ;k rho g bl idkj viu 'kjhj dh fLFkfr dh ijh{kk djuh pkfg,A eu igy ;g fu;e fy;k Fkk fd bl idkj dk vkgkj e ugh yxk vkj vkt ejk ;g fu;e g bl idkj fopkj djuk pkfg,A mld i'pkr vkx doy pkj gkFk iek.k tehu n[kr g, u vf/kd 'kh?krk l] u #d&#d dj fdlh idkj d ox d fcuk xeu djuk pkfg,A xeu djr le; gkFk yVdr g, gk] pj.k fu{ki vf/kd vUrjky l u gk] 'kjhj fodkj jfgr gk] flj FkkMk >dk gvk gk] ekx e dhpM vkj ty u gk rFkk =l thok vkj gfjrdk; dh cgyrk u gkA ;fn ekx e x/k] ÅV] cy] gkFkh] ?kkM] Hkl] dÝk vFkok dyg dju oky eu"; gk rk ml ekx l nj gk tk;A i{kh vkj [kkr&ihr g, ex Hk;Hkhr u gk vkj viuk vkgkj NkMdj u Hkkx] bl idkj l xeu djA **enuk ifry[ku u —riektuk xPN|fn fujUrjkl lekfgrQykfnd okxrk Hkor ekxkUrjefLr fHk™ko.kk ok Hkfe ifo'kULr}.kHkHkkx ,o vxiektu d;krA** ¼Hk-vk- i- 608½

vko';d gku ij fiPNh l viu 'kjhj dh ifry[kuk djA ;fn ekx e vkx fujUrj b/kj m/kj Qykfn iM gk] ;k ekx cnyrk gk ;k fHk™k o.k okyh Hkfe e io'k djuk gk rk ml o.koky Hkfe Hkkx e gh fiPNh l viu 'kjhj dk lkQ dj yuk pkfg,A r"k] xkcj] jk[k Hkl vkj ?kkl d<j l rFkk iÝk] Qy] iRFkj vkfn l cpr g, pyuk pkfg,] bu ij ij ugh iMuk pkfg,A

mi;ä vkxekä dkj.k l fl) gkrk g fd oreku le; e tk dN lk/k enk ydj vkgkj p;k d fy, fudyr g og vkxekä ugh gA fnxEcj tu ijEijk d fdlh Hkh ikphu vkpk;i.khr xFk e enk yu dk fo/kku ugh gA 'kkL=k e nkuk gkFk yVdkdj vko';drkulkj

thok dh j{kk djr g, xeu djuk pkfg, ftll 'kjhj dk ifjektu gk ld ,lk o.ku gA ;fn tk fiPNh l 'kjhj dk ifjektu djd thok dh j{kk djr g, xeu ugh djr mUg b;kiFk lfefr ,o vfglk egkork e nk"k yxrk gA bld lkFk&lkFk gekj ikphu ,o oreku vkpk; ;Fk& vk- 'kkfrlkxj] vk- vkfnlkxj] vk- egkohjdhfr vkfn Hkh vkgkj p;k e enk ydj ugh tkr FkA bldk vul/kku eu ¼vk-dudunh½ rhuk vkpk;k d xgLFk f'k";k l ydj lk/k f'k";k l fd;k ,o oh-Mh-vk- dlV e n[kkA ;g enk dh ijEijk dc l fdlu ikjEHk dh] fdlh dk ugh ekyeA vkgkj p;k e enk dk iek.k ikphu vkpk; —r xFk e liek.k] ldkj.k ;fn dkb e> iLrr djxk vkj bl enk dk ikjHk dc] D;k] dl gvk e> voxr djk;xk rc bl ij e iu¼ fpru d#xkA e rk ,d lue] lR;xkgh] vkxefu"B lk/k gA e #<hokn] erokn] ijijkokn ,o v/kfo'okli.k /ke ,o foKku l jfgr rFkk lR; d fo#) dN Hkh ekuu d fy, vleFk gA bu v/k ijijkvk u gh /ke d okLrfod rF; l tuekul dk vk>y dj fn;k g ,o fo—r fLFkfr e ykdj [kMk dj fn;k gA e tu /ke d gj fo/kk d lR;&rF; dk mtkxj djd n'k&fon'k e ipkj&ilkj dju e yxk gvk gA bl Ük[kyk e tu /ke dh tk #<hoknh] vkxe fo#)] erokn ,o vuko';d ijEijkvk dk nj djuk Hkh e viuk dr0; le>rk gA blfy, ;g y[k fy[kk gA lEHkor% dN ykx dgr g vkgkj p;k d fy, lk/k xeu dj jg g bldh igpku d fy, bl enk dk ipyu gvk gk ijr bldk Hkh liek.k] ldkj.k bl iFkk dk cryku e dkb leFk ugh gA

-: अमृतानुभव :-

'सा विद्या या विमुक्तये' 'विद्या ददाति विनयं, विनयात् याति पात्रताम्' 'जीवन निर्वहण एवं जीवन निर्माण' आदि शिक्षा का उद्देश्य है न कि केवल साक्षरता, परीक्षा में उत्तीर्ण होना, डिग्री प्राप्ति, नौकरी, दिखावा, अहंकार, फैशन - व्यसन, प्रतिष्ठा प्राप्ति आदि।

लोकेष्णा (प्रसिद्धि) एक गंभीर मानसिक रोग

''कारण कार्य संबंध '' '' बिन जाने ते दोष गुनन को कैसे तजिए गहिए '' ''कारणाभावे कार्याभाव'' As you think So you become. As you sow so shell you reap के अनुसार हमें लोकेष्णा के दोषों के निष्पक्ष, गहन, यथार्थ कारणों का अनुसंधान करके दोषों को त्यागकर गुणों को स्वीकार करना केवल आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। इसे ही तो यथार्थ ज्ञान, सम्यग्ज्ञान, वीतराग विज्ञान कहा है। यथा-

''हिताहित परिहार समर्थ प्रमाण तत् ज्ञानमेव ''। परीक्षामुख

जो हित की प्राप्ति अहित के परिहार करने में समर्थ है वही ज्ञान यथार्थ से प्रमाणीभूत है। उपर्युक्त दृष्टि से कारणों का वर्णन कर रहा हूँ। कलिकाल में अधिकांश लोग श्रद्धा, विवेक एवं आत्म कल्याण की बुद्धि से रहित होकर धर्माचरण अहंकार की पुष्टि, ख्याति, प्रसिद्धि, यश, लाभ, कीर्ति के लिए करते हैं। पूर्वाचार्यों ने भी कहा है-

भयं दाक्षिण्य कीर्ति च लज्या आशा तथैव च ।
पंचभि: पंचमे काले जैनो धर्मः प्रवर्वतते ।।

पंचमकाल में लोग जैन धर्म को लोकभय,अन्य का मन दु:खित न होने के लिए कीर्ति, लज्या, आशा से पालन करते हैं।**'' प्रवाहे वर्तते लोको न लोक: परमार्थिके:''** **'' निकले थे हरि भजन को कातन लगे कपास''** के अनुसार दूसरों का अंधानुकरण, क्षुद्र लक्ष्य, लक्ष्य भ्रष्ट, भीड इकट्ठा, लोक प्रसिद्धि नाम बढाई, स्वार्थसिद्धि, दूसरों को नीचा गिराकर स्वयं को ऊपर उठाना आदि कारण भी उपर्यक्त दोष के लिए कारण हैं।तथैव च -

प्रसिद्धि के विभिन्न उपाय-

उष्ट्राणां विवाहेषु गीत गायति गर्दभा।
परस्पर प्रंशसंति अहो रूप अहो ध्वनि।।

अर्थात् ऊँट के विवाह में ऊँट ने गधे को गीत गाने के लिए निमंत्रण दिया। गधा आकर उसके विवाह में उसके रूप की प्रंशसा में गीत गाया तो ऊँट प्रसन्न होकर गधे की ध्वनि की प्रशंसा की। इसी प्रकार साधु, श्रावक जिससे स्वयं की स्वार्थ सिद्धि होती है उसकी प्रंशसा में सुललित मधुर कंठ से राग अलापते रहते हैं।

घटं भित्वा पटं छित्वा कृत्वा गर्दभं रोहणं।
येन-केन प्रकारेण मनुष्य: प्रसिद्ध: भवेत्।।

घट तोडकर , वस्त्र फाडकर , गधे के ऊपर चढकर येन केन प्रकार से भी मनुष्य प्रसिद्ध बनना चाहते हैं अर्थात् मनष्य प्रसिद्ध बनने के लिए योग्य-अयोग्य, न्याय-अन्याय, करणीय-अकरणीय,शोभनीय-अशोभनीय आदि सब कार्य करता है। मेरे दीर्घ अनुभव भी हैं कि अधिकांश सामान्य जन से लेकर साधु-संत तक दान, तप, पूजा-विधान, पंचकल्याणक, केंशलोच, जन्मजंयति, दीक्षाजयंति, चातुर्मास विहार,भाषण-प्रवचन, ज्ञानार्जन से लेकर धर्माजन, फैशन-व्यसन, हाव-भाव, बोली बोलना, चलना, खाना, जीना आदि प्रसिद्धि /दिखावा के लिए करते हैं। यदि अच्छी भावना से दान आदि श्रावक करते हैं तथा मुनि स्व-कर्तव्यों का पालन करते हैं तब आत्म विशुद्धि , पाप कर्म का संवर तथा निर्जरा, पुण्य संचय के साथ-साथ आनुसंगिक रूप से और भी अधिक कीर्ति/प्रसिद्धि स्वयमेव होती है। परंतु जीव मोह, अंहकार आदि के कारण यथार्थ का परिपालन नहीं कर पाता हैं। जैसा कि ''मृग मरीचिका''।

जिस प्रकार से सर्प का कांचली त्यागना सरल है परंतु विष त्यागना कठिन है उसी प्रकार मनुष्य का धनादि बाह्य त्याग करना सरल है परंतु प्रसिद्धि आदि त्यागना कठिन है। इतना ही नहीं बाह्य त्याग भी लोकेष्णा (प्रसिद्धि) को घटाने के लिए ही नहीं या स्वयमेव जो त्याग से प्रसिद्धि होती है उसके लिए भी नहीं परंतु अहंकार पूर्ण प्रसिद्धि के लिए करते हैं। कहा भी है-

कंचन तजना सहज है, सहज तिया का नेह।
मान बढाई ईर्ष्या दुर्लभ तजना येह ।।

वस्तुत: अंतरंग में जो मान, कषाय, ईर्ष्याभाव, अहं ग्रन्थि, हीन ग्रंथि है उसके कारण मान बढाई (लोकेष्णा) की भावना होती है। इसलिए यह लोक प्रसिद्धि की तृष्णा मानसिक गंभीर व्यापक रोग है। इसलिए इसके सद्भाव में मनुष्य विभिन्न प्रकार के कषाय, ईर्ष्या, द्वेष,लडाई झगडा, मायाचारी, निंदा, चापलूसी, संक्लेश,तनाव, युद्ध, हिंसा, हत्या, फैशन, व्यसन, आडम्बर, दिखावा आदि करता है जिससे उसे शांति के परिवर्तन में अशांति ही अशांति मिलती है, शारीरिक, मानसिक रोग हो जाते हैं, सज्जनों की दृष्टि में उसकी प्रसिद्धि और भी घट जाती है। नीति वाक्य है-

क्षांति तुल्यं तपो नास्ति संतोषान्न सुखं परम् ।
नास्ति तृष्णा समो व्यार्धिन च धर्मः दया पर: ।।

इतना ही नहीं इस पाप के कारण अगले भव में भी दु:खी होता है। यथा-

मान बढाई कारज जो धन खरचे मूढ ।
मर करके हाथी होयेगा आगे लटकाये सूंढ।।

प्राचीन कथानुसार एक दीर्घ तपस्वी भी अपनी प्रंशसा, प्रसिद्धि के लिए अपने यथार्थ परिचय के छिपाने के भाव के कारण मर करके हाथी हुआ। कहा है-

अधीत्य सकलं श्रुतं चिरमुपास्य घोरं तपो ।
यदीच्छसि फलं तयोरहि हि लाभपूजादिकम्॥
छिन्नसि सुतपस्तरोः प्रसवमेव शून्याशयः ।
कथं समुपलप्स्यसे सुरसमस्य पक्वं फलम् ॥ 189 - आत्मानुशासन

समस्त आगम का अभ्यास और चिरकाल तक घोर तपश्चरण करके यदि उन दोनों का फल तू यहाँ सम्पत्ति आदि का लाभ और प्रतिष्ठा आदि चाहता है तो समझना चाहिए कि तू विवेकहीन होकर उस उत्कृष्ट तपरूप वृक्ष के फूल को ही नष्ट करता है। फिर ऐसी अवस्था में तू उसके सुंदर व सुस्वादु पके हुए रसीले फल को कैसे प्राप्त कर सकेगा? नहीं कर सकेगा।

जिस प्रकार कोई मनुष्य वृक्ष को लगाता है, जल सिंचन आदि से उसे बढाता है, और आपत्तियों से उसका रक्षण भी करता है, परंतु समयानुसार जब उसमें फूल आते हैं तब वह उन्हें तोड लेता है और इसी में संतोष का अनुभव करता है। इस प्रकार से वह मनुष्य भविष्य में आने वाले उसके फलों से वंचित ही रहता है। कारण यह है कि फलों की उत्पत्ति के कारण तो वे फूल ही थे जिन्हें कि उसने तोडकर नष्ट कर दिया है। ठीक इसी प्रकार से जो प्राणी आगम का अभ्यास करता है और घोर तपश्चरण भी करता है परंतु यदि वह उसके फलस्वरूप प्राप्त हुई ऋद्धियों एवं पूजा प्रतिष्ठा आदि में ही सन्तुष्ट हो जाता है तो उसको उस तप का जो यथार्थ फल स्वर्ग मोक्ष का लाभ था वह कदापि नहीं प्राप्त हो सकता है। अतएव तपरूप वृक्ष के रक्षण एवं संवर्द्धन का परिश्रम उसका व्यर्थ हो जाता है।अभिप्राय यह हुआ कि यदि तप से ऋद्धि आदि की प्राप्ति रूप लौकिक लाभ होता है तो इससे साधु को न तो उसमें अनुरक्त होना चाहिए और न किसी प्रकार का अभिमान ही करना चाहिए। इस प्रकार से उसे उसके वास्तविक फल स्वरूप उत्तम मोक्ष सुख की प्राप्ति अवश्य होगी।

प्रसिद्धि रूपी रोग दूर करने के उपाय

तथा श्रुतमधीष्व शश्वदिह लोक पंक्ति विना
शरीरमपी शोषय प्रथितकाय संक्लेशनैः ।
कषायविषयद्विषो विजय से यथा दुर्जयान्
शमं हि फलमामनन्ति मुनयस्तपः शास्त्रयोः॥ 190 - आत्मानुशासन

लोकेष्णा/प्रसिद्धि विना अर्थात् प्रतिष्ठा आदि की अपेक्षा न करके निष्कपटरूप

से यहाँ इस प्रकार से निरन्तर शास्त्र का अध्ययन कर तथा प्रसिद्ध कायक्लेशादि तपों के द्वारा शरीर को भी इस प्रकार से सुखा कि जिससे तू दुर्जय कषाय एवं विषय रूप शत्रुओं को जीत सके। कारण कि मुनिजन राग द्वेषादि की शांति को ही तप और शास्त्राभ्यास का फल बतलाते हैं।

अभिप्राय इतना ही है कि प्राप्त हुए विशिष्ट आगमज्ञान एवं तप के निमित्त से किसी प्रकार के अभिमान आदि को न प्राप्त होकर जो राग द्वेष एवं विषय वांच्छा आदि परमार्थ सुख की प्राप्ति में बाधक हैं अत: उन्हें ही नष्ट करना चाहिए। यही उस आगमज्ञान एवं तप का फल है।

धर्म पालन, कर्तव्य निर्वहन, साधुत्व, प्रभावना, शिक्षा, दीक्षा, गुरु उपदेश आदि के माध्यम से आत्म कल्याण के साथ-साथ कीर्ति संपादन करनी चाहिए या यथार्थ से कहे तो कीर्ति/प्रसिद्धि आनुसंगिक रूप से हो ही जाती है, परंतु ऐसा कोई भी कार्य व्यवहार नहीं करना चाहिए जिससे आत्मग्लानि, संक्लेश, तनाव, लोक निंदा,धर्म की हँसी, सद्गुरु की अपकीर्ति आदि हो। यथा-

जिस प्रकार मैं संसार से पार उतरू, जिस प्रकार से आपको परम संतोष हो, मेरे कल्याण में संलग्न आपका और संघ का परिश्रम जिस प्रकार से सफल हो॥ 1477

जिस प्रकार मेरी और संघ की कीर्ति फैले, मैं संघ की कृपा से उस प्रकार रत्नत्रय की आरधना करूँगा॥ 1478

वीर पुरुषों ने जिसका आचरण किया है, कायर पुरुष जिसकी मन से कल्पना भी नहीं कर सकते, मैं ऐसी आराधना करूँगा॥ 1479 भ. आ.

उट्ठानवतो सतिमतो सुयिकम्मस्स निसम्मकारिनो ।
सञ्ञतस्य च धम्मजीविनो अप्पमत्तस्य यसोभिवड्ढति॥ ध.प. - श्लो.4

जो उद्योगी, सचेत, शुचि कर्म वाला, सोचकर काम करने वाला है, संयत धर्मानुसार जीविका वाला एवं अप्रमादी है,उसका यश बढता है। (महात्मा बुद्ध)

क्रोध: कामो लोभ मोहो विधित्साऽकृपासूये मान शोकौ स्पृहा च।
ईर्ष्या जुगुप्सा च मनुष्य दोषा वर्ज्या सदा द्वादशैते नराणाम्॥ महाभारत

काम, क्रोध, मोह, लोभ, कुछ बिगाडने की इच्छा, क्रूरता, असूया, अभिमान, शोक, कामना, ईर्ष्या, घृणा ये 12 दोष मनुष्यों को छोड देने चाहिए।

जैन धर्म के आत्मानुशासन, परमात्म प्रकाश, समयसार आदि ग्रंथों में तथा उपनिषद में ख्याति, पूजा, प्रसिद्धि, लोकेष्णा लाभादि से दूर रहने के लिए आध्यात्मिक साधक को बार-बार संबोधित किया है, सचेत किया है। उपनिषद् में तो ख्याति आदि को

शुकर विष्ठा कहा है। इसका रहस्य यह है कि जिस प्रकार शुकर विष्ठा मनुष्य की विष्ठा की विष्ठा होने के कारण घृणित है, त्यजनीय है उसी प्रकार ख्याति, प्रसिद्धि आदि घृणित है, त्यजनीय है। संसारी जीव भौतिक संपत्ति भोग आदि में लिप्त रहता है, परंतु साधु तो बाह्यत: ये सब त्याग कर लिए हैं,परंतु अंतरंग में जो राग द्वेष मान आदि कषायें हैं उनके त्याग के बिना ख्याति पूजा आदि की भावना होती है और तद्नुकूल वे उसी प्रकार का कार्य करने के लिए विवश होते हैं। इसलिए गृहस्थ बाह्य भौतिक साधनों के लिए जो कुछ आरंभ समारंभ, लंद-फंद, संक्लेश,तेरा-मेरा, आकर्षण-विर्कर्षणात्मक कार्य करता है उसी प्रकार साधुओं को भी करना पडता है भले बाह्ययत: उसका रंग-रूप आकार-प्रकार कुछ भी हो अंतरंग स्वरूप एक परिग्रहधारी गृहस्थ के समान होता है। आध्यात्मिक ग्रंथों में कहा है-'

'ख्याति पूजा लाभ रूप लावण्य सौभाग्य पुत्र कलत्र राज्यादि विभूति निमित्तं राग द्वेषपहतार्तरौद्र परिणत यदाराधनं करोति।'

अर्थात् जीव ख्याति (लोक में प्रसिद्धता) पूजा, लाभ, रूप, लावण्य, सौभाग्य, पुत्र, स्त्री, राज्यादि की संपदा को प्राप्त होने के लिए जो राग द्वेष से युक्त आर्त रौद्र ध्यान रूप परिणामों से सहित आराधना करता है वह यथार्थ से सम्यक्दृष्टि धार्मिक नहीं है भले इससे वह पापानुबंधी पुण्य बाँधकर उसके फलस्वरूप थोडा सा सांसारिक वैभव आदि प्राप्त कर ले तथापि उसका परिणाम कटु ही होता है जैसा कि रावण, कंस, हिटलर, मुसोलिन, सिकंदर आदि प्रसिद्ध उदाहरण हैं। आध्यात्मिक ग्रंथों में कहा है ऐसे दूषित परिणामों से उपार्जित पुण्य पापानुबंधी पुण्य है।जिसके फलस्वरूप जीव उस पुण्य के फल से प्राप्त वैभव आदि से अहंकारी बन जाता है जिससे उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और बुद्धि भ्रष्ट होने पर भयंकर पाप करता है। यथा-पूर्वोक्त रावण आदि। जैनागमों में मद (अहंकार) करने वालों को भी अधार्मिक कहा है तथा जो इन मदों को त्याग करता है वही यथार्थ से सम्यग्दृष्टि, धार्मिक, त्यागी, साधक, साधु, संत है।

1) विज्ञान (कला अथवा हुन्नर) का मद 2) ऐश्वर्य (हुकूमत) का मद 3) ज्ञान का मद 4) तप का मद 5) कुल का मद 6) बल का मद 7) जाति का मद 8) रूप का मद।

इस प्रकार नामों के धारक जो 8 मद हैं इनका सराग सम्यक् दृष्टि को त्याग करना चाहिए। और मान कषाय से उत्पन्न जो मद, मात्सर्य, ईर्ष्या आदि समस्त विकल्पों का समूह है इसके त्याग पूर्वक जो ममकार और अहंकार से रहित शुद्ध आत्मा में भावना है वही वीतराग सम्यग्दृष्टि के आठ मदों का त्याग है। कर्मों से उत्पन्न जो देह पुत्र, स्त्री

आदि हैं इनमें यह मेरा शरीर है, यह मेरा पुत्र है इस प्रकार की जो बुद्धि है वह ममकार हे और उन शरीर आदि में अपनी आत्मा से भेद न मानकर जो मैं गोरे वर्ण का हूँ, मोटे शरीर का धारक हूँ, राजा हूँ, मेरी प्रसिद्धि है, इस प्रकार मानना सो अहंकार है।

अथ ख्याति पूजा लाभ दृष्ट श्रुतानुभूत भोगाकांक्षारूप निदान बंधादिसमस्त शुभाशुभ संकल्पविकल्पवर्जित शुद्धात्मा संवित्तलक्षण परमोपेक्षासंयमासाध्ये संवरव्याख्याने ।

अर्थ- आगे संवर तत्व का व्याख्यान करते हैं, जो संवर अपनी प्रसिद्धि, पूजा,लाभ व देखे सुने अनुभव हुए भोगों की इच्छा रूप निदान बंध आदि सर्व शुभ व अशुभ संकल्पों से रहित शुद्धात्मा के अनुभव लक्षणमई परम उपेक्षा संयम के द्वारा सिद्ध किया जाता है।

इन्दियकसायसण्णा णिग्गहिदा जेहिं सुट्ठु मग्गमि ।
जावत्तावत्तेहिं पिहियं पावासवच्छिद्दं ॥ 141

(जेहिं) जिससे (सुट्ठुमग्गम्मि) उत्तम रत्नत्रय मार्ग में ठहरकर (जावत्) जब तक (इन्द्रियकषायसण्णा) इन्द्रिय कषाय व चार आहारादि संज्ञाएँ (णिग्गहिदा) रोक दिए जाते हैं (तावत्) तब तक (तेहिं) उस के द्वारा (पावासवछिद्दं) पाप के आने का छेद (पिहियं) बन्द कर दिया जाता है।

उपर्युक्त वर्णन से सिद्ध होता है कि जो क्रोधादि कषायों से आवेशित होकर या संकीर्ण तथा विपरीत उद्देश्यों से धार्मिक कार्य भी क्यूँ न करे उससे उसका पाप संवर नहीं होता है, पाप की निर्जरा भी नहीं होती है, पुण्यानुबंधी पुण्य का बंध नहीं होता है, भाव की पवित्रता नहीं होती है, मानसिक शांति नहीं मिलती है। दीर्घकाल तक जब तक वह धार्मिक कार्य पूर्ण नहीं होता है तब तक वह कार्य भी नहीं कर पाता है क्योंकि उसकी संकीर्ण भावना की संतुष्टि जब तक होती है तब तक तो वह धार्मिक कार्य को बाह्यत: ढोता रहेगा परंतु जब उसके संकीर्ण विचारानुसार कार्य नहीं होगा तब वह उससे विक्षुब्ध हो जायेगा एवं उसको छोड देगा। जितने भी महापुरुष हुए हैं वे महान् उद्देश्य से ख्याति, पूजा, लाभ, प्रसिद्धि को छोडकर विभिन्न बाधायें आने पर भी उन कार्यों को कर पाये क्योंकि उद्देश्य महान् पवित्र थे। इसी प्रकार वर्तमान ओर भविष्य में भी ऐसे ही व्यक्ति महान् कार्य कर सकते हैं।

वर्तमान में प्रभावना के नाम पर अधिकांश गृहस्थ, श्रावक, पंडित, ब्रह्मचारी, ब्रह्मचारिणी, साध्वी, साधु, उपाध्याय, आचार्य तक ख्याति, प्रसिद्धि (लोकेष्णा) लोक संग्रह में ही लगे हुए हैं। जिसके कारण यथार्थ से स्व-पर की प्रभावना नहीं हो पा रही है,

क्योंकि ''आत्म प्रभावनीयो रत्नत्रय तेजसा सततमेव'' ''आदहिदं कादव्वं यदि चेत् परहिदं कादव्वं'' ''आद दीवो भव:पर दीवो भव:'' '' न धर्म: धार्मिके र्विना'' आदि महान् सूत्रों से हमें यह शिक्षा मिलती है कि आत्म प्रभावना पूर्वक धर्म प्रभावना करो, स्वयं प्रकाशवान बनो दूसरों को प्रकाशित करो, स्व कल्याण के साथ- साथ पर कल्याण करो। अन्यथा बुझा दीपक जैसे स्व-पर को प्रकाशित नहीं कर सकता है वैसे ही आध्यात्मिक नैतिक प्रकाश से रहित व्यक्ति स्व- पर को प्रकाशित करके स्व- पर की प्रभावना नहीं कर सकता है। प्र+भावना अर्थात् प्रकृष्ट/श्रेष्ठ/पवित्र भावना है = प्रभावना है न कि केवल भीड एकत्रित होना, बाह्य आडम्बर करना, धर्म के नाम पर धन संग्रह करना, संकीर्णता, पंथवाद, मतवाद आदि का प्रचार- प्रसार करना। संक्षिप्तत: लोकेष्णा, प्रसिद्धि की लालसा एक सूक्ष्म, गंभीर, व्यापक, मानसिक, आध्यात्मिक रोग है जिससे जीव के शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक, सुख, शांति, समता नष्ट होती है, आर्थिक, पारिवारिक, सामाजिक, नैतिक विषमता होती है,पीठ पीछे उसकी निंदा होती है,उसका सहयोग, समर्थन नहीं करते हैं,उससे दूसरें कटते जाते हैं। लोकेष्णा में बाधा पहुँचने पर प्रसिद्धि चाहने वाले असहिष्णु, ईर्ष्यालु, विक्षुव्ध, तनाव से युक्त, दीन-हीन हो जाते हैं और उससे निवृत होने के लिए लडाई, झगडा, लंद-फंद, अन्याय, अत्याचार,अनैतिकता आदि करने लगते हैं। उपर्युक्त सभी दुष्परिणामों से बचने के लिए लोकेष्णा से दूर रहना ही श्रेयस्कर है। अंत में ''Feame is a thing that dead man can eat. Friendship is a thing that living man can eat." प्रसिद्धि एक वस्तु है जिसे मृत व्यक्ति भोगता है। मित्रता एक वस्तु है जिसे जिंदा व्यक्ति भोगता है क्योंकि मृत्यु के बाद ही व्यक्ति की यथार्थ प्रसिद्धि/प्रशंसा होती है क्योंकि यथार्थ पूर्ण मूल्यांकन तो मृत्यु के बाद ही लोग करते हैं या होता है अथवा होना भी संभव है। मृत्यु के बाद ऐसी यथार्थ प्रशंसा मृत व्यक्ति न सुन सकता है न अनुभव कर सकता है। अत: उसके लिए तो ऐसी प्रशंसा निरर्थक है, परंतु मित्रता/मैत्री व्यवहार/प्रेमपूर्ण सद्व्यवहार जीवन्त व्यक्ति भोगता है। क्योंकि यह व्यवहार जीवन्त व्यक्ति जीवन्त व्यक्ति के साथ करता है। अत: प्रसिद्धि से मित्रता श्रेष्ठ है। अतएव प्रसिद्धि के चक्कर में न पडकर मैत्री व्यवहार करना चाहिए। कार्य प्रशंसा के लिए नहीं अपितु प्रशंसनीय कार्य करना चाहिए। ''कर्मण्येव अधिकारस्तु मा फलेषु कदाचन'' गीता का यह वचन इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है। '' सत्वेषु मैत्री'' भाव एवं व्यवहार से तो स्व-पर को एक निर्मल/पवित्र/शांत स्वान्त सुख अनुभव होता है परंतु लोकेष्णा से क्षणिक, अतृप्त सुख अनुभव होता है जो ईन्धन के संयोग से अग्नि की वृद्धि के समान लोकेष्णा की वृद्धि से प्रसिद्धि रूपी अग्नि उत्तरोत्तर बढती जाती

है। इसलिए आत्मसाधकों के लिए एकांतवास, मौनवृत, जनसंपर्क से दूर, निंदा- प्रशंसा से अप्रभावी, समताधारी होना आवश्यक है। यथा-

जनेभ्यो वाक् तत: स्पन्दो मनसश्चित्तविभ्रम:।
भवति तस्मात्संसर्ग: जनैर्योगी ततस्त्यजेत् ॥ 72 समा.श

जन से बोलने से मन में स्पन्दन, कंपन होता है जिससे चित्त में विभ्रम / चंचलता होती है अत: योगी को जनसंपर्क त्यागना चाहिए।

राय दोस वे परिहरिवि जे सम जीवणियन्ति।
ते समभाव परिट्ठिया लहु णिव्वणु लहन्ति ॥

जो जीव राग-द्वेष का परित्याग करके साम्यभाव में रहता है वह निर्माण को शीघ्र प्राप्त करता है।

अभवच्चित्तविक्षेप एकान्ते तत्त्वसंस्थित: ।
अभ्यस्येदभियोगेन, योगी तत्त्वं निजात्मन:॥ 36 इष्टोपदेश पृ. 41

जिसके चित्त में क्षोभ नहीं है, जो आत्मस्वरूप में स्थित हैं ऐसे योगी सावधानी पूर्वक एकांत स्थान में अपने आत्मा के स्वरूप का अभ्यास करें।

यथा-यथा समायाति, संवित्तौ तत्वमुत्तमम् ।
तथा-तथा न रोचन्ते, विषया: सुलभा अपि॥ 37

ज्यों- ज्यों संवित्ति (स्वानुभव) में उत्तम तत्त्वरूप का अनुभवन होता है, त्यों-त्यों उस योगी को आसानी से प्राप्त होने वाले भी विषय अच्छे नहीं लगते हैं।

यथा-यथा न रोचन्ते, विषया: सुलभा अपि।
तथा-तथा समायाति, संवित्तौ तत्तवमुत्तमम्॥ 38

ज्यों-ज्यों सहज में ही प्राप्त होने वाले इन्द्रिय विषयभोग रुचिकर प्रतीत नहीं होते हैं, त्यों-त्यों स्वात्म संवेदन में निजात्मनुभव की परिणति वृद्धि को प्राप्त होती रहती है।

विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन, स्वयमपि निभृत:सन्पश्य षण्मासमेकम् ।
हृदयसरसि पुंस: पुद्गलाभिन्नधाम्नो, ननु किमनुपलब्धिर्भाति किं चोपलब्धि:॥

(नाटक समयसार कलशा: जीवाजीवाधिकार:)

आचार्य शिष्य को उपदेश देते हैं कि हे वत्स ! ठहर, व्यर्थ के अन्य कोलाहलों से क्या लाभ ? निश्चित हो छ:ह मास तक एकांत में, अपने आपका अवलोकन तो कर। देख, हृदय रूपी सरोवर में पुद्गल से भिन्न तेज वाला आत्मा की उपलब्धि होती है, या अनुपलब्धि।

निशामयति निश्शेषमिन्द्रजालोपमं जगत् ।
स्पृहयत्यात्मलाभाय, गत्वान्यत्रानुतप्यते ॥ 39

योगी समस्त संसार को इंद्रजाल के समान समझता है। आत्म स्वरूप की प्राप्ति के लिए अभिलाषा करता है तथा यदि किसी अन्य विषय में उलझ जाता या लग जाता है तो पश्चाताप करता है।

इच्छत्येकान्तसंवासं, निर्जनं जनितादरः ।
निजकार्यवशात्किञ्चिदुक्त्वा विस्मरति द्रुतम्॥ 40

निर्जनता को चाहने वाला योगी एकांतवास की इच्छा करता है और निज कार्य के वश से कुछ कहे भी तो उसे जल्द ही भुला देता है।

परः परस्ततो दुःखात्मैवात्मा ततः सुखम्।
अतएव महात्मानस्तन्निमित्तं कृतोद्यमाः॥ 46

दूसरा दूसरा ही है, इसीलिए उससे दुःख होता है, और आत्मा आत्मा ही है इसलिए उससे सुख होता है। इसलिए महात्माओं ने आत्मा (सुख) के लिए ही उद्यम किया है।

आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य, व्यवहारबहिःस्थितेः।
जायते परमानंदः, कश्चिद्योगेन योगिनः॥ 47

देहादिक के प्रमाद से हटकर अपने आत्मा में स्थित रहने वाले तथा प्रवृत्ति-निवृत्ति लक्षण वाले, व्यवहार से बाहर से दूर रहने वाले ध्यानी-योगी पुरुष को आत्मध्यान से कोई एक वचनों के अगोचर परम जो दूसरों को नहीं हो सकता ऐसा आनंद उत्पन्न होता है।

आनन्दो निर्दहत्युद्धं, कर्मेन्धनमनारतम् ।
न चासौ खिद्यतेयोगी, बर्हिदुःखेष्वचेतनः॥ 48

जैसे अग्नि ईंधन को जला डालता है, उसी प्रकार आत्मा में उत्पन्न हुआ परमानंद हमेशा से चले आये प्रचुर कर्मों को अर्थात् कर्म सन्तति को जला डालता है , और आनंद सहित योगी, बाहरी दुःखों के - परीषह, उपसर्ग संबंधी क्लेशों के अनुभव से रहित हो जाता है जिससे खेद को (संक्लेश को) प्राप्त नहीं होता है।

अविद्याभिदुरं ज्योतिः, परं ज्ञानमयं महत्।
तत्प्रष्टव्यं तदेष्टव्यं, तद् दृष्टव्यं मुमुक्षुभिः ॥ 49

अविद्या को दूर करने वाली महान् उत्कृष्ट ज्ञान ज्योति है। सो मुमुक्षुओं (मोक्षाभिलासियों) को उसी के विषय में पूछना चाहिए और उसी की वांछा करनी चाहिये और उसे ही अनुभव में लाना चाहिए।

प्रकृष्ट सिद्धि = प्रसिद्धि = सिद्धि स्वात्मोपलब्धिः अर्थात् स्व आत्मा की पूर्ण

उपलब्धि ही प्रसिद्धि /सिद्धि / मोक्ष है। इस परमोत्कर्ष अवस्था/पूर्ण अवस्था में आध्यात्मिक अनंत गुणों के साथ-साथ ईश्वरत्व/प्रभुत्व आदि गुण शुद्ध रूप में, सहज रूप में, स्वभाव रूप में प्रगट होते हैं और उसका अनुभव शुद्ध जीव करते हैं।परंतु कर्म बंध के कारण आत्मा के समस्त गुणों में विकृति के साथ- साथ ईश्वरत्व/प्रभुत्व आदि गुण भी विकृत होकर मद, प्रसिद्धि रूप में विपरिणमन (विकृत) करते हैं। इसलिए हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह, भ्रष्टाचार आदि पापों के समान ही मान। प्रसिद्धि पाप है; जो कि त्यजनीय है। मद, प्रसिद्धि स्वयं ही पाप स्वरूप हैं एवं विभिन्न पापों का जनक है। तथापि-मोही परम सत्य को नहीं जानता है-

मोहेन संवृतं ज्ञानं स्वभावं लभते नहि।
मत्त पुमान् पदार्थानां, यथा मदन कोद्रवैः॥ 7

मोह से ढका हुआ ज्ञान, वास्तविक स्वरूप को वैसे ही नहीं जान पाता है, जैसे कि मद पैदा करने वाले कोद्रव (कोदों)को खाने से नशैल-बेखबर हुआ आदमी पदार्थों को ठीक-ठीक नहीं जान पाता है।

मलविद्धमणे व्यक्तिर्यथा नैक प्रकारतः।
कर्मविद्धात्माविज्ञाप्तिस्तथा नैक प्रकारतः॥ लघी.

मल सहित मणि का प्रकाश जैसे एक प्रकार से न होकर अनेक प्रकार का होता है वैसे ही कर्म सम्बद्ध आत्माका प्रतिभास भी एक रूप से न होकर अनेक रूप होता है।

नशे को पैदा करने वाले कोद्रव-कोदों धान्य को खाकर जिसे नशा पैदा हो गया है, ऐसे पुरुष घट-पट आदि पदार्थों के स्वभाव को नहीं जान सकता, उसी प्रकार कर्मबद्ध आत्मा पदार्थों के स्वरूप को नहीं जान पाता है। अर्थात् आत्मा व उसका ज्ञान गुण यद्यपि अमूर्त है फिर भी मूर्तमान कोद्रवादि धान्यों से मिलकर वह बिगड जाता है। उसी प्रकार अमूर्तिमान आत्मा मूर्तिमान कर्मों के द्वारा अभिभूत हो जाता है और उसके गुण भी दब जाते हैं।

वपुगृहं धनं दाराः पुत्रा मित्राणि शत्रवः ।
सर्वथान्यस्वभावानि, मूढ स्वानि प्रपद्यते॥ ८

यद्यपि घर, शरीर, धन, स्त्री, पुत्र, मित्र, शत्रु, मद, प्रसिद्धि आदि सब अन्य स्वभाव को लिए हुए पर- अन्य हैं परंतु मूढ प्राणी मोहनीय कर्म के जाल में फँसकर इन्हें आत्मा के समान मानता है।

रागद्वेषद्वयीदीर्घ - नेत्राकर्षणकर्मणाः ।
अज्ञानात् सुचिरं जीवः संसाराब्धौ भ्रमत्यसौ॥ 11

यह जीव अज्ञान से राग-द्वेष रूपी दो लंबी डोरियों की खींचातानी से संसार रूपी समुद्र में बहुत काल तक घूमता रहता है- परिवर्तन करता रहता है।

जहाँ राग अपना पैर जमाता है,वहाँ द्वेष अवश्य होता है, या हो जाता है, यह निश्चय है। इन दोनों (राग-द्वेष) के अवलंबन से मन अधिक चंचल हो उठता है ओर जितने दोष हैं वे सब राग- द्वेष से संबद्ध हैं।

मान प्रसिद्धि से विरक्त होने के लिए गंभीर एवं व्यापक रूप से विचार करना चाहिए कि हे आत्मन् ! तू ने अनंत पंच परिवर्तन रूपी संसार में, स्वर्ग में, भोगभूमि में तथा मनुष्य में सेठ-साहूकार,राजा, महाराजा, मंत्री, सेनापति, लेखक, कवि, नाटककार, विदूषक, चाटुकार आदि अनंत बार बनकर ख्याति प्रसिद्धि आदि को प्राप्त किया है। तथापि इससे पूर्ण संतुष्टि, तृप्ति, शांति, मुक्ति आदि एक बार भी उपलब्ध नहीं हुई है, क्योंकि इसकी एक बार भी प्राप्ति के बाद वह नष्ट नहीं होती है। इसलिए यदि वह प्राप्त होती तो अभी भी मैं उसका अनुभव करता ,परंतु मेरे अनुभव में आता है कि मुझे पूर्ण संतुष्टि का अनुभव नहीं हो रहा है। अत: हे आत्मन् ! इस पंचमकाल के क्षुद्र (कम आयु) मनुष्यायु, मनुष्य भव में आत्म कल्याण कर। ख्याति, पूजा, प्रसिद्धि की आसक्ति छोड।इस क्षुद्र भव रूपी कडी को यदि तू समता रूपी पुरुषार्थ से दुर्बल, क्षीण करेगा तो आगे की अनंत भव रूपी कडी नष्ट हो जायेगी और अनंत, अक्षय, संतुष्टि, शांति, प्रसिद्धि प्राप्त होगी। यदि इस क्षुद्र भव में भी नाशवान मान बढाई के कारण धार्मिक कार्य भी करोगे तो उससे सासांरिक दु:ख ही बढेगा घटेगा नहीं। इसीलिए सतत निकाँक्षित होकर समता भाव से आत्म विशुद्धि के लिए ही हर कार्य करो अन्यथा Fame is the last infrity of Noble mind. अर्थात् लोकेष्णा नैतिक मानसिकता की भी एक अंतिम कमजोरी है। अर्थात् बडे से बडा आदमी भी लोकेष्णा रूपी सूक्ष्म रोगाणुओं से ग्रसित हो जाते हैं। इसीलिए इन कमजोरियों को दूर करने के लिए जैन तीर्थंकर दीक्षा लेने के बाद चार ज्ञान एवं 64 ऋद्धियों से सम्पन्न होने पर भी मौनपूर्वक तब तक एकांतवास में समतापूर्वक साधना करते हैं जब तक वे समस्त मोह का क्षय करके अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत सुख, अनंत वीर्य को प्रकट नहीं कर लेते हैं। उसके बाद वे दिव्यध्वनि के माध्यम से सत्य का, आत्म स्वरूप का, मोक्ष मार्ग का प्रतिपादन करते हैं। भले वे उस समय महान् वैभव संपन्न समवशरण की रचना होती है, तीन लोक के 100 इंद्र उनकी सेवा में रत रहते हैं,मनुष्य से लेकर चक्रवर्ती तथा सामान्य देव से लेकर इंद्र तक उनकी सेवा, प्रशंसा करते हैं तथापि वे समस्त बाह्य वैभव, आकर्षण- विकर्षण, लोक प्रसिद्धि से निर्लिप्त रहते हैं। क्योंकि आसक्ति का कारणभूत मोहनीय कर्म को उन्होंने समग्रता से, पूर्णता से नाश कर दिया है।

इससे हे आत्मन् ! तुम्हें ये शिक्षा लेनी चाहिए कि भले तुम्हारे गुणों के कारण कोई तुम्हारी पूजाब प्रशंसा, प्रसिद्धि करे उसमे तुम आसक्त नहीं होना। तुम्हारी गुण प्रशंसा करके दूसरें कथंचित् गुण उपलब्धि कर लेगें, पुण्य संचय कर लेगें परंतु तुम यदि आसक्त हो जाओगे, प्रभावित हो जाओगे तो तुम्हारा पतन अवश्यंभावी है/अवश्य है। इसीलिए 22 परीषहों में क्षुधा, पिपासा आदि को ही परीषहों के रूप में स्वीकार नहीं किया गया है अपितु सत्कार- पुरस्कार, प्रज्ञा आदि को भी परीषह कहा गया है।कथंचित् बाह्य परीषह को सहन करना, उसके ऊपर विजय प्राप्त करना सहज- सरल है परंतु सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा परीषह अंतरंग भावात्मक सूक्ष्म एवं गंभीर परीषह होने के कारण इनके ऊपर विजय प्राप्त करना अति कठिन है। वैदिक साहित्य, बौद्ध साहित्य एवं जैन साहित्य में उपलब्ध होता है कि क्षुधादि प्रतिकूल परीषहों में भी जो विचलित नहीं होते हैं वे भी मान- अपमान से विक्षुब्ध हो जाते हैं तथा स्व- पर का विनाश कर डालते हैं।इसीलिए जब कोई कष्टकारी परीषह से विचलित नहीं होता है तब तक उसके लिए प्रलोभनकारी उपसर्ग प्रस्तुत किया जाता है। जैसे कि उसे प्रलोभित करना, सुंदर स्त्रियों से विचलित कराना, उसकी चापलूसी करना आदि- आदि। सत्कार- पुरस्कार चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से तथा प्रज्ञा परीषह (मैं ज्ञानी हूँ इस प्रकार का अभिमान) ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से होता है।अंतरंग शक्तिशाली कर्म के उदय से जो अंतरंग में दुर्बलतायें, विकृतियाँ होती हैं उसके कारण जीव में महानता, श्रेष्ठता, ज्येष्ठता, गंभीरता, स्थिरता, गुणवत्ता, पवित्रता, विशुद्धता आदि गुण होते हैं जिसके कारण वे बाह्य से शीघ्रता से प्रभावित हो जाते हैं जिस प्रकार हवा चलने से धूलि, घास-फूस, तिनके उडते हैं लेकिन सुमेरू उडता नहीं है। लोकोक्ति भी है-'' रिक्त चना बाजे घना''। भर्तृहरि ने भी कहा है-

अज्ञ सुखमाराध्य: सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञ:।

ज्ञानलवदूर्विदग्धं ब्रह्मापि तं नरं न रंजयति ॥ 13, नीति शतक

ना समझ को सहज में प्रसन्न किया जा सकता है। समझदार को उससे भी सहज में प्रसन्न किया जा सकता है।परंतु जो न समझदार है न नासमझ है, ऐसे श्रेणी के मनुष्यों को ब्रह्मा भी प्रसन्न नहीं कर सकते। इसीलिए अंग्रेजी में एक कहावत है- A half mind is always dengerous. जो अल्पज्ञ होते हैं वे भंयकर होते हैं। "The little mind is proud of own condition." संकीर्ण मन एवं कम बुद्धि वाले अधिक अहंकारी होते हैं। अल्पज्ञ लोग अहंकार से स्वयं को सर्वज्ञ मानकर सत्य को इंकार करते हैं।

नारी गरिमा

स्त्री शिक्षा का महत्त्व

माता-पिता का संस्कार बच्चों पर बहुत अधिक पडता है। इसलिए माता-पिता का कर्त्तव्य होता है कि बच्चों को सुसंस्कारित करने के लिए विशेष पुरुषार्थ करें। बच्चों को सुसंस्कार देने वाले माता-पिता यथार्थ से योग्य माता-पिता हैं परंतु जो योग्य संस्कार नहीं देते हैं किंतु कुसंस्कार देते हैं, वे माता-पिता बच्चों के लिये शत्रु के समान है। महान् नीतिकार चाणक्य ने कहा है -

माता शत्रु पिता वैरी येन बालो न पाठितः।
न शौंते सभा मध्ये हंसो मध्ये बको यथाः ॥

जो माता-पिता अपने बच्चों को सुसंस्कारित करके विद्या नहीं सिखाते हैं, ऐसी माता शत्रु है, पिता वैरी है क्योंकि विद्या एवं संस्कार से रहित संतान सुसंस्कारित भद्र व्यक्तियों की सभा में शोभायमान नहीं होती, जैसे - हंसों के मध्य में बगुले की शोभा नहीं होती है।

योग्य सुसंस्कृत वीरांगना माता जीजाबाई के कारण ही एक दुबला-पतला सामान्य सामंत का लडका आगे जाकर छत्रपति शिवाजी बना। विदुषी रानी चेलना अपनी बौद्धिक कुशलता एवं धार्मिकता से एक धार्मिक-असहिष्णु एवं क्रूर स्वपति राजा श्रेणिक को एक धार्मिक, धर्म जिज्ञासु राजा बना दिया। इसी प्रकार माता मदालसा ने धार्मिक शिक्षा एवं प्रेरणा से स्वयं के कुछ पुत्रों को साधु बना दिया एवं एक पुत्र को राजा बना दिया। माता कुंती ने अपनी शिक्षा एवं उपदेश से विपत्ति के समय अपने पुत्र पाण्डवों को धैर्य दिलाया और धर्म में रहते हुए अधिकार के लिए संघर्ष करने को प्रेरित किया। प्राचीन विदुषी विरांगणाओं ने भी देश की रक्षा के लिए, धर्म की रक्षा के लिए, नारी जाति की सुरक्षा के लिए पति को प्रेरित करके धर्मयुद्ध के लिए प्रेरणा दी। विदुषी मैनासुंदरी ने भी धार्मिक शिक्षा के कारण कुष्ठ रोग से पीडित स्वपति की सेवा की तथा पति के साथ-साथ 700 कुष्ठियों के रोग दूर करने के लिए सिद्धचक्र विधान किया एवं गंधोदक के माध्यम से कुष्ठ रोग दूर किया। इतना ही नहीं इस भारत वर्ष में सर्वप्रथम शिक्षा का प्रारंभ स्त्रियों के माध्यम से हुआ। आदिनाथ ऋषभदेव जब राजा थे तो उन्होंने सर्वप्रथम ज्येष्ठ पुत्र भरत आदि 100 पुत्रों को शिक्षा देने से पहले पुत्री ब्राह्मी एवं सुंदरी को अक्षर एवं अङ्कज्ञान देकर स्त्री शिक्षा का शुभारंभ किया था। इसका वर्णन आदि पुराण में निम्न प्रकार से है।

स्त्री शिक्षा का प्रारम्भ :-

एक समय राजा ऋषभदेव सिंहासन पर सुख से बैठे हुए थे, कि उन्होंने अपना चित्त कला और विद्याओं के उपदेश देने में व्यापृत किया। उसी समय उनकी ब्राह्मी और सुंदरी नामक पुत्रियाँ माङ्गलिक वेषभूषा धारण कर उनके निकट पहुँची।

विद्या प्रारम्भ की अवस्था : किशोरावस्था :-

ते च किञ्चिदिवोद्वन्नतन कुड्मलशोभिनि।
वयस्यनन्तरे वाल्याद् वर्तमाने मनोहरे ॥ 74

वे दोनों ही पुत्रियाँ कुछ-कुछ उठे हुए स्तनरूपी कुड्मलों से शोभायमान और बाल्य अवस्था के अनन्तर प्राप्त होने वाली किशोरावस्था में वर्तमान थी। अतएव अतिशय सुंदर जान पडती थी। बाल्यावस्था में शरीर, मस्तिष्क आदि शिक्षा के योग्य परिपक्व नहीं होने के कारण इस अवस्था में विद्यारंभ अयोग्य है परंतु इस अवस्था में अनक्षरी विद्या, सुसंस्कारादि देना चाहिए।

मेधाविन्यौ विनीते च सुशीले चारुलक्षणे।
रूपवत्यौ यशस्विन्यौ श्लाध्ये मानवती जनैः ॥ 75

वे दोनों ही कन्याएँ बुद्धिमती थीं, विनित थीं, सुशील थीं, सुंदर लक्षणों से सहित थीं, रूपवती थीं और मानिनी स्त्रियों के द्वारा भी प्रशंसनीय थीं। हंसी की चाल को भी तिरस्कृत करने वाली अपनी सुंदर-सुंदर चाल से जब वे पृथ्वी पर पैर रखती हुई चलती थीं तब वे चारों ओर लालकमलों के उपहार की शोभा को विस्तृत करती थीं।

सप्रश्रयमुपाश्रित्य जगन्नाथं प्रणेमतुः। 93

ऐसी उन दोनों कन्याओं ने विनय के साथ भगवान् के समीप जाकर उन्हें प्रणाम किया। दूर से ही जिनका मस्तक नम्र हो रहा है, ऐसी नमस्कार करती हुई उन दोनों पुत्रियों को उठाकर भगवान् ने प्रेम से अपनी गोद में बैठाया, उन पर हाथ फेरा, उनका मस्तक सूंघा और हँसते हुए उनसे बोले कि आओ तुम समझती होगी कि हम आज देवों के साथ अमरवन को जायेंगी परंतु अब ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि देव लोग पहले ही चले गये हैं। इस प्रकार भगवान् ऋषभदेव क्षणभर उन दोनों पुत्रियों के साथ क्रीडा कर फिर कहने लगे कि तुम अपने शील और विनय गुण के कारण युवावस्था में ही वृद्धा के समान हो।

विद्या का महत्त्व :-

इदं वपुर्वयश्चेदमिदं शीलमनीदृशम् ।
विद्यया चेद्विभूष्येत सफलं जनम वामिदम्॥ 97

तुम दोनों का यह शरीर, यह अवस्था और यह अनुपम शील आदि विद्या से विभूषित किया जाय तो तुम दोनों का यह जन्म सफल हो सकता है।

विद्यावान् पुरुषो लोके संमति याति कोविदैः।
नारी च तद्वती धत्ते स्त्रीसृष्टेरग्रिमं पदम् ॥ 98

इस लोक में विद्यावान् पुरुष पण्डितों के द्वारा भी सम्मान को प्राप्त होता है और विद्यावती स्त्री भी सर्वश्रेष्ठ पद को प्राप्त होती है।

विद्या यशस्करी पुसां विद्या श्रेयस्करी मता।
सम्यगाराधिता विद्यादेवता कामदायिनी ॥ 99

विद्या ही मनुष्यों का यश करने वाली है, विद्या ही पुरुषों का कल्याण करने वाली है, अच्छी तरह से आराधना की गयी विद्या-देवता ही सब मनोरथों को पूर्ण करने वाली है।

विद्या कामदूहा धेनुर्विद्या चिन्तामणिर्नृणाम्।
त्रिवर्गफलितां सूते विद्यास संपतंपरम्पराम्॥ 100

विद्या ही मनुष्यों के मनोरथों को पूर्ण करने वाली कामधेनु है, विद्या ही चिंतामणि है, विद्या ही धर्म, अर्थ तथा कामरूप फल से सहित सम्पदाओं की परम्परा उत्पन्न कराती है।

विद्या बन्धुश्च मित्रं च विद्या कल्याणकारकम्।
सहयायि धनं विद्या विद्या सर्वार्थसाधनी ॥ 101

विद्या ही मनुष्यों का बंधु है, विद्या ही मित्र है, विद्या ही कल्याण करनेवाली है, विद्या ही साथ-साथ जाने वाला धन है और विद्या ही सब प्रयोजनों को सिद्ध करने वाली है।

भगवान् ऋषभदेव ने ऐसा कहकर तथा बार-बार उन्हें आशीर्वाद देकर अपने चित्त में स्थित श्रुत देवता को आदर पूर्वक सुवर्ण के विस्तार पट्टे पर स्थापित किया, फिर दोनों हाथों से अ, आ आदि वर्णमाला लिखकर उन्हें लिपि (लिखने का) ज्ञान का उपदेश दिया और अनुक्रम से ईकाई, दहाई आदि अङ्कों के द्वारा उन्हें संख्या के ज्ञान का भी उपदेश दिया। ऐसी प्रसिद्धि है कि भगवान् ने दाहिने हाथ से वर्णमाला और बायें हाथ से संख्या लिखी थी। तदनन्तर जो भगवान् के मुख से निकली हुई है, जिसमें 'सिद्ध नमः' इस प्रकार का मंगलाचरण अत्यंत स्पष्ट है, जिसका नाम सिद्ध मातृका है, जो स्वर और व्यञ्जन के भेद से दो भेदों को प्राप्त होती है, जो समस्त विद्याओं में पायी जाती है जिसमें अनेक संयुक्त अक्षरों की उत्पत्ति है, जो अनेक बीजाक्षरों से व्याप्त है

और जो शुद्ध मोतियों की माला के समान है ऐसी अकार को आदि लेकर हकार पर्यन्त तथा विसर्ग, अनुस्वार, जिह्वामूलीय और उपध्यमानीय इन अयोगवाह पर्यन्त समस्त शुद्ध अक्षरावली को बुद्धिमती ब्राह्मी पुत्री ने धारण किया और अतिशय सुंदरी - सुंदरी देवी ने ईकाई, दहाई आदि स्थानों के क्रम से गणित शास्त्र को अच्छी तरह धारण किया।

वाङ्मय का महत्त्व :-

न विना वाङ्मयात् किञ्चिदस्ति शास्त्रं कलापि व।
तन्नो वाङ्मयमेवादौ वेधास्ताभ्यामुपादिशत् ॥ 109

वाङ्मय के बिना न तो कोई शास्त्र है और न कोई कला है, इसलिए भगवान् ऋषभदेव ने सबसे पहले उन पुत्रियों के लिए वाङ्मय का उपदेश दिया था।

सुमेधसावमोहादध्येषातां गुरोर्मुखात् ।
वाग्देव्याविवं निश्शेषं वाङ्मय ग्रंथोतोऽर्यतः॥ 110

अत्यंत बुद्धिमती उन कन्याओं ने सरस्वती देवी के समान अपने पिता के मुख से संशय, विपर्यय आदि दोषों से रहित शब्द तथा अर्थरूप समस्त वाङ्मय का अध्ययन किया था।

पद विद्यामधिच्छन्दोविचितिं वागलंकृतिम्।
त्रयीं समुदितामेतां तद्विदो वाङ्मयं विदुः॥ 111

वाङ्मय के जानने वाले गणधरादि देव व्याकरण शास्त्र, छन्द शास्त्र और अलंकार शास्त्र इन तीनों समूह को वाङ्मय कहते हैं।

तदा स्वायंभुवं नाम पदशास्त्रमभून् महत्त।
यत्तत्परयत्ताध्यायैरतिगम्भरीमब्धिवत् ॥ 122

उस समय स्वयंभू अर्थात् भगवान् ऋषभदेव का बनाया हुआ एक बडा भारी व्याकरण शास्त्र प्रसिद्ध हुआ था। उनमें सौ से भी अधिक अध्याय थे और वह समुद्र के समान अत्यन्त गंभीर था।

इसी प्रकार उन्होंने अनेक अध्यायों में छन्द शास्त्र का भी उपदेश दिया था और उसके उक्त, अत्यु आदि छब्बीस भेद भी दिखलाये थे। अनेक विद्याओं के अधिपति भगवान् ने प्रस्तार, नष्ट, उद्दिष्ट, एकद्वित्रीलघु क्रिया, संख्या और अध्वयोग इंद्रशास्त्र के इन छह प्रत्यायों का भी निरुपण किया गया था। भगवान् ने अलङ्कारों का संग्रह करते समय अथवा अलङ्कार संग्रह ग्रंथ में उपमा, रुपक, यमक आदि अलङ्कारों का कथन किया था, उनके शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार रूप दो मार्गों का विस्तार के

साथ वर्णन किया था और माधुर्य, ओज आदि दस प्राण अर्थात् गुणों का भी निरुपण किया था। अथानन्तर ब्राह्मी और सुंदरी दोनों पुत्रियों की पद ज्ञान (व्याकरण ज्ञान) रूपी दीपिका से प्रकाशित हुई समस्त विद्याएँ और कलाएँ अपने आप ही परिपक्व अवस्था को प्राप्त हो गयी थी। इस प्रकार गुरु अथवा पिता से अनुग्रह से जिनने समस्त विद्यायें पढ ली हैं ऐसी वे दोनों पुत्रियाँ सरस्वती देवी के अवतार लेने के लिए पात्रता को प्राप्त हुयी थीं। वे इतनी अधिक ज्ञानवति हो गयी थी की साक्षात् सरस्वती भी उनमें अवतार ले सकती है।

पुरुष शिक्षा :-

जगद्गुरु भगवान् ऋषभदेव ने इसी प्रकार अपने भरतादि पुत्रों को भी विनयी बनाकर क्रम से आम्नाय के अनुसार अनेक शास्त्र पढाये।

भगवान् ने भरत पुत्र के लिए अत्यंत विस्तृत बडे-बडे अध्यायों से स्पष्ट कर अर्थशास्त्र और संग्रह (प्रकरण) सहित नृत्य शास्त्र पढाया था।

स्वामी ऋषभदेव ने अपने पुत्र ऋषभसेन के लिए जिसमें गाना, बजाना आदि अनेक पदार्थों का संग्रह है और जिसमें सौ से भी अधिक अध्याय है ऐसे गंधर्व शास्त्र का व्याख्यान किया था।

अनन्त विजय पुत्र के लिए नाना प्रकार के सैकडों अध्यायों से भरी हुयी चित्रकला संबंधी विद्या का उपदेश दिया और लक्ष्मी या शोभा सहित समस्त कलाओं का नीरुपण किया। अनन्त विजय पुत्र के लिए उन्होंने सूत्रधार की विद्या तथा मकान बनाने की विद्या का उपदेश दिया। उस विद्या के प्रतिपादक शास्त्रों में अनेक अध्यायों का विस्तार था तथा उसके अनेक भेद थे।

बाहुबली पुत्र के लिए उन्होंने कामनीति, स्त्री-पुरुषों के लक्षण, आयुर्वेद, धनुर्वेद, घोडा-हाथी आदि के लक्षण जानने के लिए तंत्र और रत्न परीक्षा आदि के शास्त्र अनेक प्रकार के बडे-बडे अध्यायों के द्वारा सिखलाये। संक्षेप में इतना ही पर्याप्त है कि लोक का उपकार करने वाले जो-जो शास्त्र थे भगवान् आदिनाथ ने सब अपने पुत्रों को सिखलाये थे।

जिस प्रकार स्वभाव से दैदीप्यमान रहने वाले सूर्य का तेज शरद ऋतु के आने पर और भी अधिक हो जाता है उसी प्रकार जिन्होंने अपनी समस्त विद्यायें प्रकाशित कर दी हैं ऐसे भगवान् ऋषभदेव का तेज उस समय भारी अद्भूत हो रहा था। जिन्होंने समस्त विद्यायें पढ ली हैं ऐसे पुत्रों से भगवान् ऋषभदेव उस समय उस प्रकार सुशोभित हो रहे थे जिस प्रकार कि शरद ऋतु में अधिक कांति को प्राप्त होने वाला सूर्य अपनी

किरणों से सुशोभित होता है।

उपर्युक्त प्राचीन वर्णन से सिद्ध होता है कि शिक्षा का प्रचार-प्रसार भारत वर्ष में बहुत ही प्राचीन आदि काल से प्रारंभ हो गया था। जैन धर्म में तो उपर्युक्त वर्णन से सिद्ध होता है कि स्त्री शिक्षा का प्रारंभ पुरुष शिक्षा से भी पहले हुआ है। इसी प्रकार प्रकारान्तर से हिंदू धर्म में भी सिद्ध होता है कि ईश्वर ने पार्वती को विभिन्न उपदेश दिया था। हिंदू धर्म के अनुसार विद्या की देवी - सरस्वती तो स्त्री ही है। इस कल्पना में एक सच्चाई यह है कि स्त्रियों को विदुषी बनना चाहिए। हिंदू धर्म के अनुसार गार्गी, सीता, सावित्री, अनुसूया, द्रौपदी, कुंती, लीलावती, सत्यवती आदि परम विदुषी महिला रत्न थीं। जैन धर्म के अनुसार भी ब्राह्मी, सुंदरी, चंदनबाला, चेलना, सुलोचना आदि विदुषी आर्यिका एवं महिलायें थीं परंतु ऐसी एक स्वस्थ, समृद्ध, उत्कृष्ट परम्परा वैदेशिक आक्रमणकारियों के कारण विशेषतः मुसलमान आक्रांताओं के कारण मध्य में प्रायः लोप हो गई थी। भारतीय नारी बौद्धिक दृष्टिकोण के साथ-साथ शारीरिक दृष्टिकोण से भी सुंदर होती है। आततायी, आक्रमणकारी, स्त्रीलोलुपी विदेशी लोगों ने केवल भारतीय संपत्ति, राजसत्ता को ही नहीं लूटा है परंतु उन्होंने भारतीय संस्कृति, कला और विद्या के साथ-साथ भारतीय स्त्रियों को भी लूटा, बलात्कार किया, अपहरण किया जिसके कारण स्त्रियों ने घर से बाहर निकलना बन्द कर दिया; मुखमण्डल तथा सौंदर्य को छिपाने के लिए पर्दा लगाने लग गई। स्त्री शिक्षा का ह्रास हुआ और यहाँ तक कि शील की रक्षा करने के लिए अनेक स्त्रियों ने जहर खा लिया, अग्नि में जलकर मर गयी जिसको जौहर/सती दाह कहते हैं। इसके फलस्वरूप ही स्त्री शिक्षा का धीरे-धीरे लोप हो गया और रुढिवशात् स्त्री शिक्षा का विरोध कुछ व्यक्ति करने लगे परंतु एक वास्तविक ऐतिहासिक तथ्य यह है कि उत्थान के बाद पतन और पतन के बाद उत्थान, रात के बाद दिन और दिन के बाद रात आना स्वाभाविक है। वर्तमान वैज्ञानिक-क्रांति, शिक्षाा की क्रांति के कारण एवं सामाजिक सोच में परिवर्तन के कारण पुनः स्त्री शिक्षा का महत्त्व समझने लगे एवं स्त्री शिक्षा का प्रचार-प्रसार अनेक दशकों से खूब हो रहा है। प्राचीन काल में तो स्त्री शिक्षा का इतना महत्त्व था कि तीर्थङ्कर दिव्य ध्वनि के माध्यम से स्त्रियों को शिक्षा के साथ-साथ दीक्षा भी देते थे और आचार्य, उपाध्याय, साधु भी उपदेश के माध्यम से पुरुष एवं स्त्रियों को शिक्षित करते थे और अध्यापन भी करते थे। जैन धर्म में सुप्रसिद्ध मैनासुंदरी के शिक्षा गुरु तो साक्षात् निर्ग्रंथ दिगम्बर जैन साधु थे।

मुनि द्वारा स्त्री शिक्षा का प्रचार

उज्जयनी नगरी का राजा प्रजापाल हुआ। उसके राज्य में सप्त अङ्ग थे। चतुरंग चार प्रकार का बल हाथी, घोडे, रथ और पयादे इनसे सम्पन्न था तथा प्रजा का पालन करने में निरन्तर तत्पर रहता था। वस्तुतः वह यथा नाम तथा गुण वाला था। उस प्रजापाल राजा की सौभाग्यसुंदरी नाम की रानी थी। अत्यन्त मनोहर रूप सौभाग्य से मण्डित राजा को वह अतीव प्रिय थी। वस्तुतः अपने गुणों से सज्जनों की क्रियारूप ही थी। उन राजा रानी के प्रथम सुरसुंदरी नाम की कन्या ने जन्म लिया। वह अतीव सुंदर थी। रूपलावण्य से देवाङ्गना समान थी। दूसरी कन्या मैनासुंदरी (मदनसुंदरी) नाम की हुई। वह सद्गुणों की आकार थी। महाराज प्रजापाल ने अपनी बडी पुत्री को पढने योग्य देखकर शिव शर्मा को बुलाया। सुर सुंदरी को उस शिव शर्मा के पास पढने के लिए रख दिया अर्थात् सौंप दिया।

कुशिक्षा का फल :-

मिथ्याशास्त्रवशात्तता कुगुरोस्सेवनेन च ।
सुरादि सुन्दरी सात्र जाता धर्म्मपराङ्गमुखा।। 55

सुर सुंदरी ने मिथ्यादृष्टि गुरु पाया। उसके सानिध्य में मिथ्या शास्त्रों का अध्ययन किया। फलतः वह कुगुरु की सेवा के प्रसाद से धर्म से विमुख हो गयी अर्थात् मिथ्या धर्म पोषक बन गई।

उन्मत्ता सा स्वर्गेण राजपुत्री विशेषतः।
कुशास्त्रेण तरामासीन्मर्कटीववलाशया।। 56

वह राजकुमारी अपने खोटे मिथ्या विचारों से समस्त परिवार से विरुद्ध हो गयी। दुराग्रह से नितान्त चपल वानरी के समान थी। अर्थात् बुद्धिविहीन चापल्य से वह तीव्र हठाग्रह वाली बन गयी। वानरी स्वभाव से चपल होती है, फिर हाथ में दर्पण आजाय तो कहना ही क्या। इसी प्रकार वह राजकुमारी थी।

पाप और कुसंगती के कारण वह राजकुमारी सुरसुंदरी बुद्धि, विवेक विहीन हो गयी। आचार्य खेद प्रकट करते हैं कि दुर्जन की संगती कितनी बुरी होती है।

दूसरी कन्या विशुद्ध पवित्रात्मा, शीलव्रती मैनासुंदरी कुमारी थी। उसने अपने सौंदर्य से जैसे मानो कामदेव की पत्नी रति को जीत लिया था। वह मैनासुंदरी पापों का नाश करने वाले स्वयंभूतिलक नाम के धर्मात्माओं के तिलक स्वरूप जिन मंदिर को आनन्द से परमभक्ति से जाकर, सफेद जरी के वस्त्र एवं सुंदर आभूषण धारण कर जल, चदंन, अक्षत आदि और अनेक प्रकार के सैकडों पुष्पों से जिनेन्द्र भगवान् की सम्यक्

प्रकार से पूजा, नमस्कार, स्तुति करके फिर उस मैनासुंदरी बालिका ने यमधर नाम के मुनिराज को नमस्कार करके उन यमधर मुनि महाराज के पास शांति प्रदायक धर्म को सुना।

सुशिक्षा :-

अहिंसालक्षणम् जैनमसत्यं परिवर्जनम्।
अचौर्यं ब्रह्मचर्य च परिमाणं परिग्रहम् ।। 62

जीव वध रहित लक्षण वाले असत्य भाषण का परित्याग करना, चोरी नहीं करना, एकदेश ब्रह्मचर्य का पालन करना और परिग्रह की सीमा करना जैनधर्म है।

रात्रि भुक्तिपरित्यागमष्टौ मूलगुणान् शुभान्।
कन्दमूलादिकं त्याज्यं चर्मवारिधृतौज्झनम्।। 63

रात्रि भोजन का सतत् त्याग करना श्रेष्ठ मूल-गुणों, आठ मूलगुणों को धारण करना, आलू, गाजर, मूली आदि कंदमूल त्यागने योग्य हैं। चमडे के चरश बैग आदि में रखे हुए जल, घी, तेल, हींग आदि का त्याग करना चाहिए।

इति श्रुत्वा जिनेन्द्रोक्तं धर्ममुनि मुखाम्बुजात्।
शास्त्राभ्यासं चकारोच्चैस्तत् समीपे जगद्धितम्।। 64

उपर्युक्त प्रकार श्रावक धर्म श्रवणकर मैनासुंदरी को परमानन्द हुआ। श्री गुरु मुखाम्भोज से सर्वज्ञ प्रणीत आगम को मुनिराज के पास पढा; विशेष-विशेष आध्यात्मिक, तत्त्वनिरुपक आर्षग्रंथों का तलस्पर्शी अध्ययन किया।

सुशिक्षा का फल :-

पूर्वोक्त विधि से मैनासुंदरी ने समस्त शास्त्रोंका सर्वाङ्गीण गहन अध्ययन किया। मुनि पुंगव यमधर मुनिराज ने अपने पावन चरण कमलों में रखकर उसे ज्ञान-विज्ञान में निपुण कर दिया। उसकी प्रतिभा इतनी विकसित हुयी मानों मुनिराज की निर्मल समुज्ज्वल मति ही मूर्तिमान रूप धारण कर प्रकट हुयी। ऐसा लगता था मानों विनय आदि गुणों से विभूषित वह अपने कुल की दीपक ही थी। संसार में कहावत है 'बेटी नाम काढे या रोटी' अर्थात् यश और अपयश का विस्तार करने वाली या तो बेटी होती है या तो भोजन। यदि पुत्री विनयशील, नम्र, विदुषी, ज्ञान, विज्ञान, विवेक सहित होती है तो वह अपने गृहस्थ जीवन में प्रवेश कर उभय-कुल (माता-पिता और सास-ससुर) का यश विस्तार करनेवाली होती है, स्वयं भी प्रशंसनीय होती है और कुल वंश की भी कीर्ति फैलाती है। यथा - महासती सीता, राजुल, अनन्तमति, चन्दना आदि। यदि कुलटा, अनपढ, कुरूपा हुयी तो निन्दा की कारण होती है यथा कनकमाला,

चंद्रप्रभा आदि। अतः यह मैना सुंदरी उसी प्रकार निर्दोष सम्यग्ज्ञान की कलिका सदृश ज्ञान, विज्ञान, कला, गुण, विभूषिता थी।

साधूनां संगतिस्सत्यं फलत्युच्चैस्सदा सुखम्।
भव्यानां कल्पवल्लीव परमानन्द दायिनी ॥ 74

यहाँ आचार्य श्री संगति का निमित्त क्या करता है ? यह बता रहे हैं। साधू-संतो की संगति जीव का कल्याण करने वाली होती है। परम पूज्य संयमी वीतरागी निर्ग्रन्थ साधू के पादमूल का मिलना ही महान् पुण्य का हेतु है क्योंकि 'साधूनां दर्शनं पुण्यम्' साधूओं का दर्शन ही पुण्यरूप होता है, जिन्हें उन दिगम्बर ज्ञानी-ध्यानी महामुनियों के सानिध्य में अध्ययन करने का सौभाग्य प्राप्त होता है, उनका तो कहना ही क्या है ? वस्तुतः कल्पलता के समान सत्संगति महान् उत्तम सुख रूपी फलों को प्रदान करती है। निरन्तर रहने वाले स्थायी सुख को देती है। भव्य प्राणियों को सतत् साधू-संतों के समागम में ही रहना चाहिए। आत्महितेच्छुओं को साधुओं के मुखारविंद से प्राप्त सदुपदेश संजीवनी बूटी या अमृत है। जिसे पाते ही संसार रोग-जन्म, मरण, बुढापे के दुःखों को सर्वथा नाश होता है और अमरत्व की प्राप्ति हो जाती है।

जडधियो हरति सिंचति यातिसत्यम् मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति।
चेतः प्रसादयतिदिक्षुतनोपि कीर्तिम् सत्संगतिः कथय किं न करोति पुंसाम्॥ 75

जो साधू-संतों की संगति में रहता है उसे सर्वप्रकार से जीवन विकास का अवसर प्राप्त होता है। उभय लोक की सिद्धि सरलता से हो जाती है। आत्मसिद्धि सदाचार और शिष्टाचार का साधन मूलतः सत्संगति ही है।

ज्ञान का प्रचार-प्रसार :-

ज्ञानार्जन करना जिस प्रकार एक पवित्र कर्त्तव्य है उसी प्रकार ज्ञानार्जन के बाद ज्ञान का प्रचार-प्रसार करना, ज्ञानदान करना, ज्ञान को बाँटना भी एक परम कर्त्तव्य है। क्योंकि ज्ञान एक अमृत है जिसे जीव पान करके अजर-अमर बन जाता है। ज्ञान एक प्रकाश है जिससे जीव अन्तरङ्ग में प्रकाशित हो उठता है। ज्ञान एक दान है जो सर्वश्रेष्ठ निष्पाप दान है जिससे दाता एवं दानी दोनों कृतार्थ हो जाते हैं। जैन धर्म में चार प्रकार का दान कहे गये हैं जिसमें ज्ञान दान को सर्वश्रेष्ठ दान कहा गया है। क्योंकि आहार दान से एक बार की क्षुधा दूर होती है पुनः क्षुधा लगती है। औषध दान से एक बार रोग दूर होता है पुनः वही रोग या अन्य रोग भी हो सकते हैं। अभय दान से एक बार जीव की रक्षा हो सकती है परंतु उसकी मृत्यु अनिवार्य है। किंतु ज्ञानामृत रूपी दान से जीव आध्यात्मिक-ज्ञान लोक को प्राप्त कर अमृत स्वरूप मोक्ष तत्त्व को प्राप्त कर

लेता है। जिसको ज्ञान मिलता है वह भी अमृत बन जाता है और जिसने ज्ञान दान दिया वह भी अमृत बन जाता है। क्योंकि भौतिक वस्तु के दान से भौतिक वस्तु तो कम होती है परंतु ज्ञान दान से ज्ञान बढता ही जाता है। कहा भी है - 'ज्ञानवान् ज्ञान दानेन' अर्थात् जो ज्ञान देता है वह ज्ञानवान् बनता है।

यो ज्ञान दानं कुरुते मूनीनां सदेवलोकस्य सुखानि भुक्ते।
राजं च सत्केवलबोधलब्धिलब्ध्वा स्वयं, मुक्तिपदं लभेत्॥

जो मुनियों के लिए ज्ञान दान करता है वह स्वर्ग लोक से सुख भोग कर राज्य को प्राप्त करता है और केवल ज्ञान को प्राप्त कर स्वयं मोक्ष पद को प्राप्त करता है। इसलिए ज्ञानदान या ज्ञान प्रचार की परम्परा बहुत हा प्राचीन काल से है। जैन धर्म के तीर्थङ्कर जो केवल ज्ञान को प्राप्त करते हैं तो इंद्र आकर दिव्य धर्म सभा (समवशरण) की रचना करता है जहाँ पर तीर्थङ्कर भगवान् विराजमान होकर 718 भाषाओं में वहा उपस्थित असंख्यात देव, मनुष्य, लाखों पशु-पक्षियों को ज्ञान दान देते हैं। उस तीर्थङ्कर की दिव्य ध्वनि से ज्ञान को प्राप्त कर गणधर उसको लिपिबद्ध करते हैं। जिससे भविष्य के ज्ञान पिपासु शिष्य ज्ञानामृत पान कर सके। इताना ही नहीं, तीर्थङ्कर देश-विदेश में परिभ्रमण करके ज्ञान प्रचार, धर्म प्रचार करते हैं। अभी भी उस स्वस्थ परम्परा के अनुसार साधु-संत भी परिभ्रमण करके ज्ञान का प्रचार करते हैं। इसी प्रकार महात्मा बुद्ध जब बोधिसत्व को प्राप्त करते हैं तब वे भी यत्र-तत्र विहार करके धर्म प्रचार-ज्ञान प्रचार करते रहे। उसके उपरान्त भी अशोक, राहुल, संघमित्रा, महेंद्र आदि ने भी देश-विदेश में जाकर ज्ञान का प्रचार करते रहे। इसी प्रकार ईसा मसीह, विवेकानन्द, गरुनानक, दयानन्द सरस्वती आदि ने भी ज्ञान का प्रचार-प्रसार किया। अभी भी साधु-संत, समाज सुधारक परिभ्रमण करते हुए ज्ञान का प्रचार-प्रसार करते हैं। पहले भी कुछ स्थायी गुरुकुल थे जहाँ पर दूर-दूर से विद्यार्थी आकर विद्या अर्जन करते थे। वह संस्था वर्तमान की विद्यालय संस्था के पूर्वरूप थी। नालन्दा विश्वविद्यालय, तक्षशिला विश्वविद्यालय, उज्जैन विश्वविद्यालय अन्तर्राष्ट्रीय प्रसिद्ध भारत के तीन विद्यालय थे जहाँ पर चाणक्य, चंद्रगुप्त मौर्य, पाणिनी, वरदराज, अकलङ्क, निष्कलङ्क आदि देशी भारतीय विद्यार्थियों ने अध्ययन किया तो व्हेनसांग आदि विदेशी विद्यार्थियों ने भी अध्ययन किया था। उन विद्यालयों में केवल धर्म का ही अध्ययन नहीं होता था बल्कि धर्म के साथ-साथ दर्शन, तर्क, व्याकरण, छन्द, अलङ्कार, आयुर्वेद, ज्योतिष, निमित्त ज्ञान आदि ज्ञान के विभिन्न पहलू का अध्ययन होता था। गुरुजन (आचार्य, उपाध्याय व अध्यापक) प्रायः अवैतनिक थे। शिष्यवर्ग स्वेच्छा से गुरुदक्षिणा के रूप में जो देते

थे और राजा, श्रेष्ठी वर्ग आदि जो दान देते थे उससे गुरुकुल की सारी व्यवस्था होती थी। इसलिए वहाँ पर वस्तुतः ज्ञान का आदान-प्रदान होता था परंतु क्रय-विक्रय नहीं होता था। इसलिए उस समय में ज्ञानार्जन में और ज्ञानदान में अधिक पवित्रता थी। ज्ञानदान करके गुरु स्वयं का अहोभाग्य मानते थे एवं शिष्य भी स्वयं को धन्य मानते थे। अभी भी कुछ साधु-संत एवं संस्थाएँ निःशुल्क विद्या दान करने में संलग्न हैं। साधु-संतों का प्रवचन होना, प्रशिक्षण शिविर लगाना, धार्मिक कक्षायें लगाना, साहित्य प्रकाशन करना यह सब ज्ञान प्रचार के ही माध्यम है। वर्तमान में कुछ शिक्षक विद्यालय में ठीक पढाते भी नहीं हैं क्योंकि विद्यालय में उत्तम रीति से पढाने से विद्यार्थी ट्यूशन नहीं पढेंगे जिससे आर्थिक कमाई नहीं होगी। उधर सरकार से वेतन प्राप्त करते हैं और इधर विद्यार्थियों से भी शोषण करते हैं। प्रथमतः वे सरकारी नौकरी करने के कारण स्कूल में ज्ञान दान तो करते ही नहीं वहाँ भी कर्त्तव्य चोरी करते हैं और ट्यूशन पढाकर विद्यार्थियों का धन एवं समय का भी शोषण करते हैं। ऐसे व्यक्ति निःस्वार्थ गुरु तो है ही नहीं परंतु अपनी नौकरी को भी पवित्र रूप से कर्त्तव्य-परायणता से नहीं निभाते हैं। इसलिए वर्तमान में वे विद्यार्थियों का आदर-सम्मान समुचित रूप से प्राप्त नहीं कर पाते हैं परंतु अभी भी कुछ शिक्षक ऐसे हैं जो सरकार से वेतन प्राप्त करके अपनी नौकरी पवित्रता से निर्वाह करते हैं।

26वाँ धर्म दर्शन विज्ञान प्रशिक्षण–शिविर (गनोड़ा) के सांस्कृतिक कार्यक्रम में नृत्य प्रस्तुत करते हुए शिविरार्थी

महिला जागृति , सशक्तिकरण, समान अधिकार हो तो कैसे ?

''यत्र नार्यस्तु पूज्यते रमन्ते तत्र देवता '' 'जननी जन्म भूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसि' A god mother is better than 100 teachers आदि सूक्तियाँ नारी की महानता गरिमा, श्रेष्ठता, ज्येष्ठता को प्रतिपादित करती हैं। समाज का आधा भाग महिला होने के कारण तथा समाज को गर्भ में धारण करने वाली, जन्म देने वाली, पालन करने वाली तथा संस्कार देकर आगे बढाने वाली नारी की श्रेष्ठता, उपयोगिता तथा महानता स्वत:सिद्ध है। इसलिए प्राचीन काल से ही इसकी महत्ता को अवगत करते हुये हमारे ऋषि, मुनि, तीर्थंकर, समाज-सुधारक, राष्ट्रहित चिन्तकों ने नारी को आगे बढाने के लिए विभिन्न उपायों से, विभिन्न विधाओं से प्रेरित किया है। इस युग के प्रथम समाज सुधारक राजनीतिज्ञ, धर्मप्रचारक ऋषभदेव ने बडे पुत्र भरत, बाहुबली आदि को शिक्षा देने से पहले अपनी पुत्री ब्राह्मी को अक्षर विद्या एवं सुन्दरी को अंक विद्या का प्रशिक्षण देकर यह सिद्ध किया कि पुरूष शिक्षा से भी स्त्री शिक्षा का महत्व अधिक है। इसलिए तो प्रचलित सम्पूर्ण लिपियों में से ब्राह्मी लिपि प्राचीन लिपि है। तथा गणित का आविष्कारक भारत रहा है। इसी प्रकार गार्गी, मैत्री, विद्यावती, अरूधंती, सीता, द्रौपदी, कुन्ती आदि प्रसिध्द स्त्रियाँ भारत में हुई हैं। प्राचीन भारत में नारी की गरिमा, महत्ता क्या थी उसका दिग्दर्शन निम्न में कर रहा हूँ -

उपाध्यायन्दशाचार्य आचार्याणां शत पिता ।
सहस्त्रं तु पितृन् माता गौरवेणातीश्यते ।।

दश उपाध्याय से उत्कृष्ट एक आचार्य हैं। सौ आचार्यों से उत्कृष्ट एक पिता है, सौ पिता से उत्कृष्ट एक माता है अर्थात् दसलाख उपाध्याय जो संस्कार बच्चों पर डालते हैं वह एक माता डाल सकती है तथा एकलाख उपाध्याय जो संस्कार डालते हैं वह एक पिता डाल सकता है। इससे सिद्ध होता है कि बच्चों को संस्कारित करने के काम में माता का स्थान सर्वोपरी है, इसलिए माताओं को सुसंस्कृत, सभ्य, धर्मात्मा, विदुषी होना चाहिये। इस युग के आदि काल में भ. आदिनाथ ने ब्राह्मी को ब्राह्मी लिपि तथा सुंदरी को अंकलिपि की शिक्षा देकर यह ज्वलन्त उदाहरण प्रस्तुत किये कि नारी शिक्षा सर्वोपरि है। भ. आदिनाथ ने ब्राह्मी और सुंदरी को स्त्री शिक्षा का महत्व बताते हुए कहा था-

विद्यावान् पुरुषो लोके सम्मति यति कोविदैः।
नारी च तद्वती धत्ते स्त्री सृष्टेरग्रिमं पदम्।।

विद्या से संस्कृत पुरूष विश्व में विद्वान् के द्वारा सम्मान को प्राप्त करता है, उसी प्रकार नारी भी विद्या से सुसंस्कृत होने पर नारी समाज में अग्रगण्य हो जाती है।

भारत के महान् क्रान्तिकारी नेता सुभाषचन्द्र बोस श्रेष्ठ राष्ट्र के लिये उत्कृष्ट माता की आवश्यकता सर्वोपरी मानते थे। राष्ट्र के लिये वे बोलते थे A good mother is better than 100 teachers अर्थात् माता सौ शिक्षकों से भी उत्कृष्टतम है। और भी कहते थे "You give me hundred good Mother, I give you good nation" अर्थात् आप मुझे सौ उत्तम माता दे मैं एक उत्तम राष्ट्र दूँगा। इसका भावार्थ यह है कि उत्तम व्यक्तियों का निर्माण, सुसंस्कृत-उत्तम माताओं से होता है। जैसे शुद्ध स्वर्ण से जो अलंकार बनता है वह अलंकार भी शुद्ध होता है। कहा भी है-

शोचन्ति जामयो यत्र विनश्चत्याशु तत्कुलम्।
न शोचन्ति तु यत्रैया वर्धते तद्धि सर्वदा ॥

बीज के अनुसार वृक्ष एवं वृक्ष के अनुसार फल होता है। मूल के सीचने से जैसे वृक्ष पुष्पित पल्लवित होता है, उसी प्रकार नारी समाज को सुसंस्कृत उन्नत करने से मानव समाज भी पल्लवित, पुष्पित, सुसंस्कृत होता है। इसलिए प्राचीन नीतिकारों ने कहा है-

स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोस्ति कश्चन। (मनु. 19-26)

नारी को अबला से सबला, महिला से महामहिम, जननी से जगत् पूज्या, स्त्री से श्रीमती, पतिता से लक्ष्मी, सरस्वती, दुर्गा, पार्वती बनाने के लिए तीर्थंकरों ने, ऋषि-मुनि समाज सुधारकों ने राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, राजा राम मोहनराय, महात्मा फुले, विवेकानन्द आदि ने बहुत ही परिश्रम किया है। आधुनिक राजनीति, शिक्षा, कानून, समाज शास्त्र, मनोविज्ञान आदि में भी नारियों के सर्वाङ्गीण विकास के लिए बहुत ही नियम, कानून, पाठ, अधिकार , कर्त्तव्य दिए गए हैं।

प्रत्येक प्राणी को सर्वाङ्गीण विकास करना जन्मजात, द्रव्यगत प्राकृतिक अधिकार है। इस दृष्टि से पुरूष के समान स्त्रियों को भी सर्वाङ्गीण विकास करने का पूर्ण अधिकार है। परन्तु यह विकास विनाश की ओर, स्वतंत्रता स्वच्छंदता की ओर, अधिकार तानाशाही की ओर प्रवाहमान नहीं होना चाहिए। जो स्वतंत्रता दूसरों की स्वतंत्रता का हनन करती है तथा स्वच्छंदता में परिणमन कर लेती है वह स्वतत्रंता आगे जाकर परतंत्र बन जाती है। इसी प्रकार जो विकास मर्यादा , अनुशासन , शालीनता का उल्लंघन करता है वह विकास विनाश में परिणमन कर लेता है।जो अधिकार स्वयं के कर्त्तव्य से च्युत करा लेता है, वह अधिकार भी छिन जाता है। इस दृष्टि से महिलाओं के सशक्तिकरण, समान अधिकार तथा जागृति के बारे में हम (आ. कनकनन्दी) निष्पक्ष दृष्टि से निम्न में कुछ

समीक्षा प्रस्तुत कर रहे हैं ।

1) महिला जागृति - जागृति से ही विकास एवं प्रगति संभव है। इसलिए महिलाओं को भी महिलाओं के सशक्तिकरण एवं समान अधिकार के लिये सर्व प्रथम जागृति की आवश्यकता होती हैं। जिस प्रकार बीज को पल्लवित , पुष्पित फल प्रदायक एवं विशाल बनने के लिए उसको सुप्त अवस्था को छोडकर , अंकुर रूप में जागृत होना प्रथम आवश्यकता है। बीज को जागृत होने के लिये जिस प्रकार जल, वायु, मृदा की आवश्यकता होती है उसी प्रकार महिला जागृति के लिये शिक्षा, संस्कार, सदाचार, शालीनता, मर्यादा, करूणा, दया, सेवा, सहिष्णुता, आधुनिकता प्रगतिशीलता, विनम्रता, समन्वय, कर्त्तव्य निष्ठा आदि गुणों की आवश्यकता होती है। ऐसे महान् गुण से ही देश-विदेश की प्रचीन एवं आधुनिक महिलाए महान् बनी हैं, पूज्यनीय बनी हैं एवं आदर्श बनी हैं। यथा सीता, चन्दनबाला, चेलना, जीजाबाई, मीराबाई, फ्ल्यूरेन्स नाईटेंगल, मेडमक्यूरी, मदरटेरेसा, मेनकागाँधी, कल्पना चावला आदि आदि। परन्तु जागृति के नाम पर जो अधिकांश महिलायें स्कूल, कालेज से लेकर हाट-बजार, सार्वजनिक स्थान, सिनेमा, टी.वी. प्रोग्राम, मेला-ठेला, पर्व, त्यौहार यहाँ तक कि धार्मिक कार्यक्रम मन्दिरों में भी जो अश्लीलता, फैशन, व्यसन, अंग-प्रदर्शन, फूहडपना, अनुशासन विहीनता, शोर-शराबा, गुण्डा गर्दी, उद्दण्डता, उज्जडता करती हैं वह वस्तुत: जागृति नहीं है, जागृति के नाम पर विनाश हैं, अवनति है, कलंक है। बच्चों का पालन पोषण नहीं करना, दूध नहीं पिलाना, सास-श्वसूर की सेवा नहीं करना , साधू- संतों को अहार नहीं देना आदि भी इस कोटी में आता है।

विकास के लिये महान् लक्ष्य एवं महान् आदर्श होना सर्व प्रथम अनिवार्य शर्त है। जागृति का अर्थ है शारीरिक, मानसिक, भावात्मक, आध्यात्मिक, पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक आदि का समुचित विकास। केवल बौध्दिक शौक्षणिक आर्थिक विकास से समुचित संतुलित विकास संभव नहीं है। जिस प्रकार शरीर के किसी भी अंग के लकवा ग्रसित होने पर समुचित कार्य करने के लिये अन्य अंग असमर्थ हो जाते हैं उसी प्रकार नैतिक आदि जागृति के बिना शैक्षणिक आदि जागृति को जान लेना चाहिये। आज अधिकांश महिलाओं का उद्देश्य केवल येन-केन रूप से लौकिक डिग्री प्राप्त करना, नौकरी करना, फैशन व्यसन करना, शादी करना, भोग विलासिता बाह्य दिखावा, अङ्ग प्रदर्शन, येन केन प्रकार से कर्तव्य विहीन अधिकार को प्राप्त करना ही जागृति रह गई है। इसलिये अधिकांश महिलाओं का आदर्श सीता सावित्री आदि नही हैं किन्तु नट- नटी (हीरो -हीराईन)आदि हैं।

विद्यार्थी जीवन में बच्चियाँ जब पढाई करती है तब बच्चों से भी अधिक पढाई करती है और अच्छे नंबर लाती है परन्तु वही बच्चियाँ जब पढाई छोड देती है, शादी कर लेती है, या सर्विस कर लेती है तब प्राय: अधिकांशत: वे अध्ययन, धार्मिक-नैतिक-सांस्कृतिक, सामाजिक, राष्ट्रीय सेवा, आहार दान, प्रवचन श्रवण आदि नहीं करती हैं। इसी प्रकार पुरूष के लिए भी जान लेना चाहिये।

महिला के लिए आवाज उठाने वाली अधिकांश महिला, महिला संस्थायें भी नैतिक, भावात्मक दृष्टि से न श्रेष्ठ है न श्रेष्ठ काम कर पा रही है। मैंने पुरूषों की अच्छाइयों, बुराइयों एवं कमियों के बारे में बहुत लेख एवं साहित्य लिखे है। इसी प्रकार महिलाओं की अच्छाईयों के बारे में तथा उन्हें आगे बढाने केलिए भी बहुत लेख एवं साहित्य लिखे है। परन्तु लडकियों तथा महिलाओं में उत्तरोत्तर शिक्षा वृध्दि के साथ-साथ जो बुराइयाँ बढती जा रही है उसे भारत के 16 प्रदेश में विशेषत: नगरों में अनुभव करके उनके उपकार के लिए यह लेख लिखा है । अभी भी बहुत लडकियाँ, महिलायें अच्छी है तो बहुत लडके तथा पुरूष भी खराब हैं। जो खराब हैं उन्हें इस लेख से शिक्षा लेकर सुधरना चाहिए तथा जो अच्छे हैं और भी अधिक अच्छा होना चाहिए।

2) सशक्ति करण - जिस प्रकार शारीरिक दुर्बलता के कारण शरीर में विभिन्न प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं तथा शरीर की कार्य क्षमता नहीं होने के कारण तद्योग्य कार्य भी उस शरीर से सम्पादन नहीं हो पाता है उसी प्रकार समाज, राष्ट्र के आधा भाग स्वरूप महिलाओं में यदि जागृति, शक्ति आदि नहीं होगी तो समाज, राष्ट्र रूपी शरीर का आधा भाग अयोग्य होने के कारण समाज व राष्ट्र का आधा समुचित विकास नहीं हो पायेगा। इसलिए महिलाओं का सम्यक् सशक्तिकरण अनिवार्य है। एतदर्थ महिलाओं को शारीरिक रूप से स्वास्थ्य, सबल मानसिकरूप से धैर्यशील, भावात्मक रूप से कोमल, ममतामयी, दयालु, सेवाभावी, उदारता, सहिष्णुता आदि गुणों से युक्त होना चाहिए। उनमें इतनी शक्ति/क्षमता/योग्यता होनी चाहिए जिससे वे सामाजिक, धार्मिक, पारिवारिक, कानूनी, राजनैतिक, धार्मिक आदि की अंधविश्वास, कुरीतियाँ, रीति-रिवाज, परंपरा आदि को नकार सके तथा सत्य-तथ्यात्मक उपयोगी विषयों को स्वीकार कर सके। यथा-बाल विवाह, गर्भपात,पारिवारिक कलह, दहेज प्रथा, क्रूरता, हत्या, बहू-बेटी में भेदभाव, दिखावा, फैशन-व्यसन, धन-समयादि का अपव्यय, गाली-गलौच, अपशब्द-बातूनी, अश्लीलता, अंगप्रदर्शन, ईर्ष्या, मायाचारी, घमंड आदि से दूर रहकर यथा योग्य उपर्युक्त दुर्गुणों के परिवर्तन में सुगुणों को स्वीकार कर सकें। अश्लीलता, अंगप्रदर्शन, हुल्लडबाजी, अनुशासन विहीनता, लडाई-झगडा, कलह, मार-पीट, फैशन-व्यसन,

आतंकवाद, तस्करी, हत्या आदि महिला सशक्तिकरण नहीं है वरन् महिला अशक्तिकरण है। अभी तो नट-नटी, हीरो-हीरोइन के अश्लील, अंगप्रदर्शन रूपी दृश्यों को फैशन-व्यसन, उदंडता, अतिसाहस, अनुशासनहीनता आदि को सशक्तिकरण माना जाता है। इन सब कारणों से महिलाओं में शक्ति/क्षमता नहीं आती है ऐसा ही पुरुषों के लिए जान लेना चाहिए।

3)समान अधिकार :-''सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया'' अर्थात् प्रत्येक जीव शुद्ध द्रव्यार्थिक निश्चयनय से शुद्ध-बुद्ध, सिद्ध, परमात्मा है, भगवान है। यह परम साम्यवाद, परम-समान अधिकार है। जैसा कि गोरस की दृष्टि से दूध, दही, छाछ, मक्खन, घी आदि समान हैं, तथापि अवस्था विशेष से उस प्रकार पुरुष एवं महिला में भी है। आत्मद्रव्य, मनुष्यजाति, मनुष्यायु,औदारिक शरीर आदि की दृष्टि से मनुष्य एवं स्त्री समान होते हुए भी लिंग भेद,शरीर की संरचना, सूक्ष्म कर्म भेद, डी.एन.ए. में भेद पुरुष के XY स्त्री के XX क्रोमोजन आदि के कारण दोनों में अवस्था/पर्यायगत भेद है। इसलिए तो स्त्री में गर्भ धारण योग्य अवयव होते हैं, शिशु के भोजन योग्य दूध स्तन में होता है, दाडी-मूँछ नहीं होती हैं,शरीर कोमल, दुर्बल होता है। इसलिए मानवोचित यथायोग्यता समस्त अधिकार महिलाओं को मिलने चाहिए परंतु प्रकृतिगत, शरीर, स्वभाव आदि के विपरीत प्राप्त होना योग्य नहीं है। यथा-शिक्षा, सुरक्षा, समृद्धि, सम्मान, स्वतंत्रता आदि मिलना विधेय है। परंतु पुरुषों के साथ बराबरी करने के लिए शिशुओं को दुग्धपान, पालन-पोषण, सास, श्वसुर, पति, परिवारजन, अतिथि आदि की सेवा, दया, करुणा,गृहकार्य आदि छोडना अनैतिक, अविधेय है। इतना ही नहीं अयोग्य अश्लील, अंगप्रदर्शनकारी, पुरुष पोशाक या अन्य पोशाक भी नहीं पहिनना चाहिए। समान अधिकार या महिला अधिकार कानून की आड में पति, सास,श्वसुर आदि को अनुचित कष्ट भी नहीं देना चाहिए। महिलाओं के द्वारा शराब व्यापार, देह व्यापार, स्मगलिंग, माडलिंग,आत्मघाती कार्य, आतंकवाद, चोरी, डकैती आदि दुष्कृत्य कार्य घृणास्पद, निषेद्य कार्य हैं। बडी महिलाओं को यदि उपर्युक्त अधिकार आदि चाहिए तो स्व गर्भ में रहने वाली स्त्री- शिशु का क्या उपर्युक्त अधिकार नहीं है ? गर्भ में पल रही निर्दोष शिशु की निर्मम हत्या करना क्या महिला अधिकार है ? इस कारण से भी लिंगानुपात में संतुलन गडबडा रहा है, महिलाओं की पूज्यता, गरिमा-महिमा घट रही है। इसके साथ-साथ अश्लीलता, दिखावा, ईर्ष्या भाव, अपव्यय, झगडालू प्रवृति आदि दुर्गुणों के कारण भी गरिमा घटती है। ऐसा ही पुरुषों के लिए भी जान लेना चाहिए।

अयोग्य है अपनी सच्चाई एवं अच्छाई त्यजना

चार ठग मिलकर के एक ब्राह्मण को दक्षिणा में प्राप्त एक बछडा को ठगने के उद्देश्य से रास्ते में कुछ दूर-दूर पर ठहर गये। जब ब्राह्मण को प्रथम ठग ने देखा तो उसे नमस्ते कहकर कहने लगा आप पवित्र ब्राह्मण होकर कन्धे पर अपवित्र कुत्ता को लादकर कहाँ से आ रहे हो? ब्राह्मण ने उस की बात सुनकर सोचा- यह मूर्ख है इसलिए बछडे को कुत्ता कह रहा है आगे बढा तो दूसरे ठग ने भी प्रथम ठग के जैसा ही कहा। तब ब्राह्मण को कुछ संदेह हुआ और बछडे को कन्धे से उतार कर देखा और उसे बछडा पा कर कन्धे पर लादकर आगे बढा। तृतीय ठग ने भी पूर्वोक्त बात कही तब ब्राह्मण को कुछ-कुछ विश्वास हुआ कि शायद मै ही गलत हूँ जिससे कुत्ते को बछडा मानकर ले जा रहा हूँ। आगे जब बढा तो चतुर्थ ठग ने भी घृणा से पूर्वोक्त बात दोहराई जिससे ब्राह्मण ने भ्रमवशतः निश्चय किया कि मैं निश्चय से मूर्ख हूँ जिससे मे कुत्ते को लेकर जा रहा हूँ। ऐसा विचार कर बछडे को वहाँ छोडकर चल दिया और ठग लोग बछडे को ले गये। ऐसी अनेक कथायें, किम्वदतियाँ देश-विदेश की अनेक भाषाओं में केवल पढने को ही नहीं मिलती है परन्तु ऐसी प्रायोगिक रूप से लाखों सच्ची घटनायें घटती रहती है। इसी प्रकार अनेक व्यक्ति अपनी सच्चाई एवं अच्छाई दूसरों के कारण छोड देते हैं, जो कि अयोग्य है, पतन के लिण कारण है। दूसरो की निन्दा, कटु आलोचनादि से विचलित होकर अपनी अच्छाई-सच्चाई को त्यागना अपनी मूर्खता, मूढता, दुर्बलता, अयोग्यता है। क्योंकि-

दह्यमानाः सुतीव्रेण नीचाः परयशोऽग्निना।
अशक्तास्तत्पदं गन्तुं ततो निन्दां प्रकुर्वते।। 11 चाणक्य नीति अ. 13

नीच प्रकृति के लोग औरों के यश रूपी अग्नि से जलते रहते हैं। उस पद तक तो पहुँचने का सामर्थ्य उनमें रहता नहीं इसलिए वे उसकी निंदा करने लग जाते है।

मूर्खाणां पण्डिता द्वेष्या अधनानां महाधनाः।
वाराङ्गना कुलस्त्रीणां सुभगानां च दुर्भगा।। 6 चाणक्य नीति अ. 5

मूर्खों के पण्डित शत्रु होते हैं। दरिद्रों के शत्रु धनी होते हैं। कुलवती स्त्रियों के शत्रु वेश्यायें होती हैं और सुन्दर मनुष्यों के शत्रु कुरूप होते हैं।

नैव पश्यति जन्मान्धः कामान्धो नैव पश्यति।
मदोन्मत्ता न पश्यन्ति अर्थी दोषं न पश्यति।। 8 चाणक्य नीति अ. 6

न जन्म का अन्धा देखता है, न कामान्ध कुछ देख पाता है और न उन्मत्त

पुरुष ही कुछ देख पाता है। उसी तरह स्वार्थी मनुष्य किसी बात में दोष नहीं देख पाता।

अतएव सुख-शान्ति-विकास चाहने वाले विवेकियों को **''यत्सारभूतं तदुपासनीयं हंसो यथा क्षीरमिवाम्बु मध्यात्''** के अनुसार सारतत्त्व को ही ग्रहण करना चाहिए एवं असार तत्त्व को छोड देना चाहिए।

मंथरा, शकुनि, धूर्त लोमडी, ठग, जेबकतरे, आतंकवादी आदि से जैसे मानव समाज का अनर्थ हुआ, हो रहा है उसी प्रकार दूसरों के कारण अपनी अच्छाई एवं सच्चाई को त्याग करने से उससे कुछ कम अनर्थ नहीं होता है। मंथरा आदि के कारण भी जो अनर्थ हुआ वह भी सच्चाई एवं अच्छाई के त्यागने के कारण हुआ है।

जिस प्रकार हंस बगुला के कारण मछली आदि नहीं खाता है, गाय शिकारी पशु के कारण मांस नहीं खाती है, ऊल्लू के कारण सूर्य प्रकाश नहीं त्यागता है उसी प्रकार श्रेष्ठ व्यक्तियों को दूसरों के कारण श्रेष्ठता, ज्येष्ठता नहीं त्यागना चाहिए। क्योंकि इसके त्याग ये वह श्रेष्ट से निकृष्ट हो जायेगा। श्रेष्ठता, ज्येष्ठता का लक्षण/स्वरूप है सत्य, न्याय, पवित्रता, सहिष्णुता, उदारता, क्षमा, सरल-सहजता, सादा जीवन उच्च विचार, अहिंसा, क्षमा, नम्रता, गुण ग्राहकता, परोपकारीता आदि-आदि।

पाश्चात्य, नट-नटी-फैशनी-व्यसनी, दुष्ट, दुर्जन, सत्ता-सम्पत्तिवान, अज्ञानी, अविवेकी, अनुभवहीन, स्वार्थी, कषायवान, संकीर्ण, चापलूस, चंचल, विक्षुब्ध, पक्षपाती, कट्टर मत-पंथवादी आदियों का अन्धानुकरण करना, उनसे प्रभावित होना उनके अनुसार सोच-विचार, खान-पान-व्यवहार करना, बोलना आदि अपनी सच्चाई एवं अच्छाई को तिलांजली देना है।

-: अमृतानुभव :-

अनादि अनन्त काल से प्रत्येक जीव भौतिक तत्त्व से संश्लेष बन्ध से युक्त होने के कारण जीवों के केवल शरीर, इन्द्रियाँ, मन-मस्तिष्क ही भौतिक नहीं है परंतु जीवों के रुचि (विश्वास), विचार, उद्देश्य, भावना, बुद्धि, आवश्यकता, साधन, साध्य, लक्ष्य, प्राप्य भी भौतिक है भले वह शरीर, कुटुम्ब, धन, मान, सम्मान आदि क्यों न हो। इसलिए जीव स्वयं के शुद्ध अनन्त अमूर्तिक आत्मिक वैभव को जाानने-मानने एवं प्राप्त करने में असमर्थ है, शंकित है, भयभीत है।